वेदमन्दिरं ग्रन्थकुसुमाञ्जलिः — द्वितीयं कुसुमम् ।

श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शः

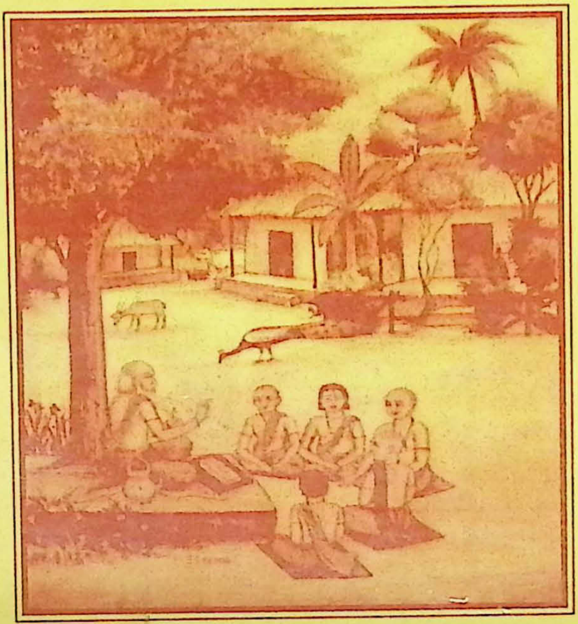

प्रणेता हिन्दीव्याख्याता च

...रायणः शास्त्री

10058

Q2:23/2

...या आर्थिकसहयोगेन प्रकाशितः ।

प्रकाशकः

श्रीसीतादेवी-श्रीनिवासशास्त्री खरकिये सेवानिधिः

2149-50/13 हुडा, भिवानी (हरियाणा) भारतम् ।

Sahitya

वेदमन्दिरं ग्रन्थकुसुमाञ्जलिः — द्वितीयं कुसुमम् ।

श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शः

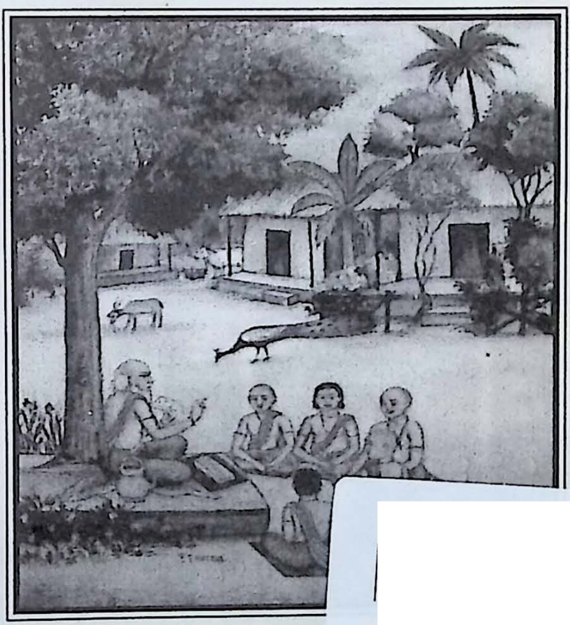

प्रणेता हिन्दीव्याख्याता च

श्रीशिवनारायणः शास्त्री

अयं ग्रन्थो दिल्लीसंस्कृताकादम्या आर्थिकसहयोगेन प्रकाशितः ।

प्रकाशकः

श्रीसीतादेवी-श्रीनिवासशास्त्री खरकिये सेवानिधिः

2149-50/13 हुडा, भिवानी (हरियाणा) भारतम् ।

यह ग्रन्थ दिल्ली-संस्कृत-अकादमी, दिल्ली के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित हुआ है।

प्रथम संस्करण : 2005 ई0

प्रति : 1100

© शिवनारायणः शास्त्री

भैंट : रु0 150/- (एक सौ पचास रुपये)

अक्षरयोजकः —**श्रीउमेश शर्मा**, गली न0 2, बाग़ कोठी, भिवानी।

मुद्रकः — **अरुण प्रिन्टर्स**, किला मोहल्ला, रोहतक।
फोन : 98964 55615

SHRI DURGATATTVAVIMARSHAH, a Philosophical Exposition of the DURGA SAPTASHATI by Sh. SHIV NARAIN SHASTRI, KUSUMANJALI, 2149-50, Sector 13, HUDA, BHIWANI (HARYANA), INDIA

✆ 01664-256272, 204366

समर्पणम्

श्रीश्रीनिवासशास्त्री 卐 श्रीमती सीतादेवी खरकिये

पुण्यतिथिः

ज्येष्ठ अमावस्या 2034 वि0 卐 मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीया 2053 वि0

सबविध गौरवदाता गुरु ये, मानवतन दे विप्र बनाया।
गोद बिठाया शारद माँ की, शास्त्रसंपदा थाती में दी।
वंश धरोहर ब्राह्मण की ये, करूँ समर्पित मात-पिता के।
तन-मन पावन करने वाले, श्रीचरणों में शिवनारायण॥

समर्पयितारौ

ज्येष्ठकृष्णप्रतिपदा, 1995 वि0 卐 भ्रातृद्वितीया, 2006 वि0

विनीतपुत्रशिवनारायणशास्त्रीएवंपुत्रवधूश्रीमतीकुसुमशर्मा
प्रतिष्ठापक,श्रीसीतादेवीश्रीश्रीनिवासशास्त्रीखरकियेसेवानिधिःभिवानी।

प्रकाशकीय वक्तव्य

भौतिक और बौद्धिक अभावों के कारण जीवनसंघर्ष की आपाधापी मैं आज मनुष्य जीवन की आवश्यक मूलभूत समस्याओं को सुलझाने के चक्रव्यूह में पड़कर अर्थ और काम की साधना को ही जीवन का परम प्रयोजन मानने को बाध्य हैं। ऐसे में जीवन में अर्थ, काम को नियन्त्रित, अनुशासित रखने वाले धर्म पुरुषार्थ का महत्त्व बहुत कम हो गया है। वस्तुतः धर्म अर्थ और काम का अनुगामी हो गया है। इससे हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक संस्कार अर्थकामप्रधान हो गए हैं और हमारी पूरी सभ्यता तथा संस्कृति कदाचार की ओर प्रवर्तित हो रही है, मर्यादाएँ ढीली हो रही हैं। संपूर्ण देश में स्वार्थपरायणता अपने पूरे यौवन पर है।

इस स्थिति का समाधान इस अपसंस्कृति की निस्सारता की और मानवीय गुणों, आस्थाओं, मर्यादाओं के महत्त्व की पुनःस्थापना से ही हो सकता है। इस कार्य में सब से अधिक उपयोगी हमारा साहित्य हो सकता है। साहित्य अतीत से प्रेरणा लेकर वर्तमान की समस्याओं का विवेचन, विश्लेषण तो करता ही है, भविष्य को भी उज्ज्वल बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है। साहित्य मनुष्य की तीसरी आँख है, जो मनुष्य की संकल्पशुद्धि करके उसे शिव बनाती है —— मनुष्य की बेलगाम इच्छाओं को नियन्त्रित करती है। इच्छाओं के नियन्त्रित होने पर अर्थ का नियन्त्रण तो स्वतः हो जाता है।

यही बात दृष्टि में रखकर **श्रीसीतादेवी-श्रीनिवासशास्त्री खरकिये सेवानिधिः** ने मनुष्य को शुभ सस्कारों से युक्त करने के अपने प्रयासों में **वेदमन्दिरं ग्रन्थकुसुमाञ्जलि** के रूप में श्रेष्ठ साहित्य को प्रकाशित करके उपलब्ध कराने का उपक्रम किया है। इसी के अङ्ग के रूप मैं यह द्वितीय कुसुम प्रकाशित किया जा रहा है। जनता जनार्दन से निवेदन है कि इस ग्रन्थ को अपने अध्ययनक्रम में तो रखें ही, अपने इष्ट, मित्रों, परिवार और बन्धुजनों को वितरण करके और छात्रों को पुरस्कार आदि के रूप में देकर पुण्यलाभ भी करें।

इति निवेदयति

डॉ0 रामेश्वरदत्त शर्मा

3, विकासनगरम् (निदेशक, हरियाणा संस्कृत अकादमी 169/12, पंचकूला) भिवानी (हरि0)।

संरक्षक

श्रीसीतादेवी-श्रीनिवासशास्त्री खरकिये सेवानिधिः, भिवानी।

भूमिका

'साङ्ख्य' दर्शन के अनुसार जगत् के मूल में दो तत्त्व हैं — (क) चेतन और (ख) जड़। चेतन तत्त्व जड़ तत्त्व के सम्पर्क में आता है, तो जड़ से सृष्टि का निर्माण होता है। चेतन तत्त्व जड़ तत्त्व को पूरता है, उसमें स्थित होकर, उसे व्यापकर उसमें निवास करता है, इस कारण उसे पुर्+वस् के योग से 'पुरुष' कहा जाता है। जड़ वस्तु मूलतः समान अवस्था में विद्यमान सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुणों के रूप में होती है। इस स्थिति में इसका कोई आकार, परिमाण नहीं होता। अतः साम्यावस्था में विद्यमान इन तीन गुणों को 'अव्यक्त' नाम से कहा गया है। जैसे ही इसका सम्पर्क पुरुष, अर्थात् चेतन तत्त्व, से होता है, तब ये गुण अपनी साम्यावस्था में नहीं रह पाते। साम्यावस्था में विक्षोभ होता है, तो इनका पृथक्-पृथक् प्रतिभान होने लगता है। इस विक्षोभावस्था (विचलन) के पश्चाद् ये गुण परस्पर गौण-प्रधानभाव की स्थिति में आ जाते हैं। जब चैतन्य की अभिव्यक्ति वाला एक गुण प्रधान होता है, तब अन्य दो गुण उससे गौण हो जाते हैं। इस व्यक्तता की स्थिति का मूल, प्रधान कारण पूर्ववर्ती साम्यावस्था, अर्थात् अव्यक्तावस्था, ही होती है। अतः इस साम्यावस्था को 'अव्यक्त' के साथ-साथ 'प्रकृति', 'मूल', 'प्रधान' और 'कारण' भी कहते हैं। अव्यक्तावस्था के लिए सर्वाधिक प्रचलित नाम 'प्रकृति' है, क्योंकि परवर्ती सारी व्यक्तावस्था का, अर्थात् कार्यावस्था का, प्र+करण (प्रकृष्ट करण, अभिव्यक्ति), मूल कारण अवस्था में ही निहित है। 'प्रकृति' शब्द स्त्रीलिङ्ग है, अतः जगद्रूप बालक को जन्म देने के कारण इसकी कल्पना 'माँ' के रूप में की गई है। यह कारणावस्था सारे व्यक्त कार्यजगत् की माँ है, इसलिये इसे 'जगदम्बा' कहते हैं।

अव्यक्त अवस्था से व्यक्तावस्था की आरम्भिक अवस्था को साङ्ख्यदर्शन में 'महत्' कहा जाता है। अव्यक्तावस्था तो भावशून्य स्थिति है। साम्यावस्था में क्षोभ (विचलन) होने की स्थिति में ही उसमें भाव की विभिन्न अवस्थाएँ, भावविकार, प्रकट होते हैं। परवर्ती विराड् जगत् की अभिव्यक्ति का आदिम रूप यही विक्षोभावस्था है। अतः इस स्थिति को निरुक्त शास्त्र में 'प्रतिभा' (व्यक्तता) के सामान्य नाम से कहा गया है और साङ्ख्य में 'महत्'।

'महत्' अवस्था व्यक्तता का प्रारम्भ तो है, पर इस अवस्था में भी भेदों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है। इस क्षोभावस्था का परिणाम विक्षुब्ध, अर्थात् साम्यावस्था से विचलित, सत्त्व, रजस् और तमस् की पृथक्-पृथग् अभिव्यक्ति

के रूप में प्रकट होता है। व्यक्तता की ये तीन स्थितियाँ 'त्रिविध अहंकार' कही गई हैं। इनमें एक सात्त्विक, दूसरा राजसिक और तीसरा तामसिक है। अर्थात् एक में सत्त्वगुण की प्रधानता है, दूसरे में रजोगुण की, तीसरे में तमोगुण की मुख्यता है। इन्हें पुराणों में 'ब्रह्मा', 'विष्णु' और 'शिव' कहा गया है। प्रकृति से संपृक्त चेतन पुरुष की मुख्यता की दृष्टि से देखने के कारण इन तीन स्थितियों को ये पुँल्लिङ्ग नाम दिए गये हैं और इन्हें 'देव' कहा गया है। अधिदैव दृष्टि का यही प्रारम्भ है।

प्रकृति के घटक तीन गुणों की दृष्टि से देखने पर इन्हें 'प्रकृति' के स्त्रीलिङ्ग के कारण स्त्री नाम दिये गए हैं — 'ब्रह्माणी', 'महालक्ष्मी' और 'महाकाली'। इस प्रकार ये तीन नाम एक, प्रकृतिरूप जगदम्बा की तीन भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले तीन पृथक्-पृथक् गुणों की प्रधानता वाली तीन भिन्न-भिन्न कार्यावस्थाओं को प्रकट करते हैं। इन्हें स्त्रीलिङ्ग के कारण 'देवियाँ', 'शक्तियाँ' कहा गया है।

रजोगुण की (क) बर्हण (बीजावस्था को उद्भूत करके बढ़ाना) शक्ति को 'ब्रह्मा' की शक्ति के रूप में 'ब्रह्माणी' नाम दिया गया है। (ख) रजोगुण का, जन्म देने के अतिरिक्त, एक और भी कार्य होता है —सक्रियता, चञ्चलता, गतिशीलता। सृष्ट पदार्थ का विकास रजोगुण की इस विशिष्ट शक्ति, गतिशीलता, के कारण होता है। विकास नदीप्रवाह के समान सरणशील, निरन्तर गतिशील होता है। अतः रजोगुण की इस शक्ति को 'सृ' धातु से बने 'सरस्' शब्द से 'वाला' अर्थ में तद्धित प्रत्यय 'मतुप्' लगाकर 'सरस्वती' कहा गया है। विकास में मुख्य भूमिका ज्ञान की होती है। ज्ञान भी निरन्तर बहता, बढ़ता रहता है। ज्ञान की जैसे-जैसे वृद्धि होती है, सक्रियता, गतिशीलता भी वैसे-वैसे बढ़ती जाती है। अतः ज्ञान की मुख्यता के कारण ज्ञान की अधिष्ठात्री शक्ति को 'सरस्वती' नाम दिया गया है। सृष्टि कार्य रजोगुण का प्रथम कार्य है। अतः रजोगुण में अभिव्यक्त चैतन्य, अर्थाद् 'ब्रह्मा' की प्रथम शक्ति को 'ब्रह्मा' की पत्नी का गौरव देकर, 'ब्रह्माणी' नाम दिया गया है और सृष्टि के पश्चाद्वर्ती होने से ज्ञान की अधिष्ठात्री 'सरस्वती' को ब्रह्मा की पुत्री कहा गया है। किन्तु स्रष्टा की तुष्टि सृष्टि करने मात्र से नहीं होती। वह उसका विकास भी सम्पूर्ण भाव से चाहता है। 'ब्रह्मा' के प्रसङ्ग में इस भाव को परोक्षप्रिय देवों की भाषा— प्रतीकों में बात कहने वाले ब्राह्मणग्रन्थों — में जगत् के स्रष्टा 'ब्रह्मा' द्वारा अपनी पुत्री सरस्वती को कान्ताभाव से देखे जाने की कथा के रूप में बताया गया है।

'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' के आधारग्रन्थ 'श्रीदुर्गासप्तशती' में रजोगुणप्रधान

महाशक्ति के रूप में 'महासरस्वती' रूप का ही वर्णन किया गया है, सृष्टिरूप कार्य की सम्पादिका 'ब्रह्माणी' रूप का नहीं। 'ब्रह्माणी' को तो महाशक्ति के अनेक रूपों में से एक देवशक्ति के रूप में ही महत्त्व दिया गया है।

प्रधानभूत सत्त्वगुण से संपृक्त चैतन्य को 'विष्णु' नाम दिया गया है और वह जिस सत्त्वगुण में स्थित होता है, उस सत्त्वगुण को 'महालक्ष्मी' नाम दिया गया है। 'श्रीदुर्गासप्तशती' में तो नहीं, पर अन्यत्र इस शक्ति को 'विष्णु की पत्नी' कहा गया है। सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश को प्रकट करना है। वह पारदर्शी (Transparent) होता है। चैतन्य स्वयं प्रकाशरूप है। इन दोनों के संयोग के कारण 'विष्णु' का मुख्य कार्य सृष्ट जगत् को बनाए रखना, अर्थात् उसकी रक्षा करना, पालन है। सृष्टि की उत्पत्ति और विकास में जो बाधक तत्त्व आते हैं, उनका विनाश 'विष्णु' का कार्य है। विष्णु इसके लिये नाना रूप धारण करते हैं, नाना रूपों में अवतीर्ण होते हैं, अन्य देव नहीं। यह प्रायः सभी शास्त्रों में बताया गया है।

जगत् की रक्षा से ज़गत् का विकास होता है। इस कारण यत्र-तत्र शास्त्रों में 'सरस्वती' को 'विष्णु की पत्नी' भी बताया गया है। किसी कवि ने अपनी विनोदपूर्ण शैली में इस बात को यों कहा है-

एका भार्या प्रकृतिमुखरा, चञ्चला च द्वितीया।

प्रधानभूत तमोगुण में अभिव्यक्त चैतन्य को शास्त्रों में 'शिव' अथवा 'महाकाल' कहा गया है। प्रधानभूत तमोगुण को 'महाकाली' कहा गया है। तमोगुण का स्वभाव प्रकाश और प्रसाद के विपरीत अन्धकार और विषाद तथा सक्रियता और गतिशीलता के विपरीत निष्क्रियता, गतिहीनता, स्थिरता, ठसपना होता है।

जिस मनुष्य की रुचि सृष्टि और उसके विकास में होती है, उसकी दो स्थितियाँ होती हैं —

(क) अगर उसकी बुद्धि में रजस् की प्रबलता होती है तथा सत्त्व और तमस् में से किसी में कोई ऊपर नीचे रहता है, तो उसकी प्रवृत्ति सृष्टि और विकास में होती है। इस स्थिति को 'प्रवृत्तिमार्ग' कहते हैं और इस मार्ग पर चलना चाहने वाले मनुष्य को 'प्रवृत्तिमार्गी' कहते हैं। ये भी तीन प्रकार के होते हैं —

(अ) रजोगुण प्रधान, उससे न्यून सत्त्वगुण, सबसे न्यून तमस् होने पर मनुष्य अभ्युदय के साधन धर्म के आचरण को अपने जीवन में प्रमुखता देते हैं।

'धर्म' से अभिप्राय ऐसे आचरण से है, जो मनुष्य को धारण करता है विनाश से बचाता है। इस आचरण के अन्तर्गत मनुष्य की बुद्धि में कुछ गुणों के

प्रति श्रद्धा और निष्ठा का होना आवश्यक होता है। वे गुण मनुस्मृति (6.92) के अनुसार ये दस हैं —

1. **धृति**, अर्थात् अपने लक्ष्य पर टिकाव, 2. **क्षमा**, विपरीत आचरण को सहना, **3. दम**, अपनी दोषयुक्त प्रवृत्तियों का दमन, 4. **अस्तेय**, किसी की वस्तु को उसकी अनुमति के विना न लेना, 5. **शौच**, अर्थात् अपने तन, मन और पर्यावरण की स्वच्छता, 6. **इन्द्रियनिग्रह**, अर्थात् अपने ग्यारह इन्द्रियों (पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और एक दोनों के साथ संयुक्त होकर इन्हें अपने-अपने विषय की अधिगति कराने वाले उभयात्मक इन्द्रिय मन) को विवेक से नियन्त्रित करना, 7. **धी**, अर्थात् बुद्धि से उचित-अनुचित्, सत्-असत्, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक करके निश्चय करना, 8. **विद्या**, जगत् के भेदात्मक और अभेदात्मक स्वरूप का ज्ञान कराने वाले नानाविध शास्त्रों की जानकारी, 9. **सत्य**, अर्थात् वस्तु जैसी है, उसको उसी रूप में व्यवहार में लाना, 10. **अक्रोध**, मन के विपरीत बात होने पर विचलित होकर अपना आपा न खोना।

श्रीमद्भागवत (1.17.24) में धर्म के चार पादों में से ये दो गुण बताए हैं — **1. तपस्** अर्थात् मन और शरीर को कष्ट देना, **2. दया**, अर्थात् जो लोग मन, बुद्धि या शरीर से दुर्बल हैं, दीन दुखी हैं, उनके प्रति करुणा। इन गुणों को जीवन में उतारने से मनुष्य को जीवन के सारे उत्तम फल मिलते हैं। (मनुस्मृति 6.91, 93) ।

प्रबल रजोगुण, उससे निर्बल सत्त्वगुण और इससे निर्बल तमोगुण वाले प्रवृत्तिमार्गी लोग धर्माचरण के प्रति अपनी निष्ठा के कारण जगत् में अभ्युदय प्राप्त करते हैं और जगत् के विकास में सहायक होते हैं। ऐसे लोगों में 'महासरस्वती' का प्रकाश होता है।

(आ) जिन लोगों में रजोगुण प्रबल, तमोगुण उससे निर्बल और सत्त्वगुण अत्यन्त निर्बल होता है, ऐसे लोगों की प्रवृत्ति भी जागतिक पदार्थों की प्राप्ति में होती है। अतः ये भी 'प्रवृत्तिमार्गी' कहलाते हैं। किन्तु सत्त्व की अपेक्षा तमोगुण की प्रबलता होने के कारण इनकी प्रवृत्ति धर्माचरण में नहीं होती। इस प्रवृत्ति वाले लोग जगत् के विकास में सहायक न होकर केवल अपने और अपनों के विकास में रुचि रखते हैं।

(इ) जिन लोगों में गुणों की प्रबलता का क्रम तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुण का होता है, वे लोग अपने गुणों की प्रबलता और निर्बलता की मात्रा के अनुसार स्वार्थमयता से परिपूर्ण होते हैं, और वे अनुचित तरीकों से, धर्म के विपरीत

आचरण करके अपनी इच्छा पूरी करते हैं। ऐसे लोगों की इच्छाओं ('काम') और उनकी पूर्ति के साधनों ('अर्थ') पर धर्म का कोई नियन्त्रण नहीं होता। ऐसे लोग अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति में ही सुख अनुभव करते हैं और अपने असुओं, अर्थात् प्राणवान् देहेन्द्रियसंघात, में ही रमने, सुख अनुभव करने के कारण 'असुर' कहलाते हैं। 'दिति' वैदिक भाषा में 'खण्ड' को कहते हैं। जो लोग खण्डों से, टुकड़ों से, भेदभाव से, परिचालित होकर अपने काम और अर्थ को सिद्ध करना चाहते हैं, तथा केवल स्वार्थ का धारण करने वाले, खण्डित धर्म, को अपनाते हैं, वे लोग 'दैत्य' कहलाते हैं। जो लोग केवल अपनी रक्षा के लिए ही, और उसके लिए अपनों की रक्षा के प्रति सचेष्ट होते है, ऐसे लोग 'रक्षस्', 'राक्षस' कहलाते हैं। ऐसे लोग ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के प्रति द्वेषभाव वाले होते हैं और जगत् के विकास में बाधक होते हैं।

इस प्रकार के लोग दो प्रकार के होते हैं - (1) जो केवल अपने महत्त्व की इच्छा करते हैं। 'श्रीदुर्गासप्तशती' का 'महिष' ऐसे लोगों का ही प्रतिनिधि है। (2) जो जगत् में जितने उत्तम पदार्थ हैं, उनको भोगने का एकमात्र अधिकारी स्वयं को समझते हैं, ऐसे लोग साम से, दान से, भेद से और सब के विफल होने पर दण्ड से उन उत्तम वस्तुओं को पाने का प्रयत्न करते हैं। 'श्रीदुर्गासप्तशती' का 'शुम्भ' अथवा 'सुम्भ' ऐसे लोगों का ही प्रतिनिधि है।

(ख) किन्तु कुछ लोगों में सत्त्वगुण सर्वाधिक, तमोगुण उससे कम और रजोगुण काफी कम होता है। वे लोग सत्त्वगुण की प्रबलता के कारण अपने जीवन में प्रकाश को, ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। उनमें 'तेर-मेर' की बुद्धि कम होती है। कर्त्तव्यनिष्ठता और परोपकार की वृत्ति उनके स्वभाव में अधिक होती है। तमोगुण मध्यम स्थिति में तथा सत्त्वगुण के नियन्त्रण में होने के कारण उनकी प्रवृत्ति विनाशात्मक (Negative) नहीं होती। रजोगुण अत्यल्प होने से उनमें चञ्चलता, सक्रियता, जागतिक विकास की प्रवृत्ति अत्यल्प होती है। ऐसे स्वभाव वाले लोग 'निवृत्तिमार्गी' होते हैं। यह निवृत्तिस्वभावता भी इन गुणों के तारतम्य की मात्रा के कारण अल्पाधिक होती है।

जगत् के सारे कार्य तीन गुणों की न्यूनाधिकता के कारण सत् और असत् प्रवृत्तियों के रूप में होते हैं। सत् के भी दो रूप होते हैं - (1) परम सत् की प्राप्ति से सम्बद्ध प्रवृत्तियाँ, (2) लौकिक अभ्युदय की दृष्टि से ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्तियाँ। असत् का सम्बन्ध जगत् की अनित्य वस्तुओं से राग के रूप में होता है और यह

मनुष्य को सर्वविध अभाव (क) पदार्थदरिद्रता, साधनाभाव, आर्थिक अभाव, (ख) बौद्धिक अभाव, विचारदरिद्रता, सीमित स्वार्थ के दायरे में ही घूमने-घुमाने के रूप में होता है।

यह सारा प्रपञ्च इन तीन गुणों का ही प्रपञ्च है। 'श्रीदुर्गासप्तशती' में वस्तुतः राजा 'सुरथ' और 'समाधि' नामक वैश्य को निमित्त बनाकर मनुष्य के स्वभाव की इन्हीं विभिन्न प्रवृत्तियों का चित्रण 'ब्रह्मा', 'विष्णु', 'निद्रा', 'मधु', 'कैटभ', 'महिषासुर', 'शुम्भ', 'निशुम्भ', 'सुग्रीव' नामक दूत, 'धूम्राक्ष', 'चण्ड', 'मुण्ड' और 'रक्तबीज' नामों के माध्यम से किया गया है। लोग इन्हें इतिहास की तरह से लेते हैं। पर इससे इस कथा के तात्पर्य का बोध नहीं होता। प्रकृत ग्रन्थ में सम्पूर्ण 'श्रीदुर्गासप्तशती' की व्याख्या इसके प्रतीकार्थ को समझाकर की गई है।

वैशेषिकदर्शन (1.2) में धर्म का स्वरूप इसके उद्देश्य की दृष्टि से निम्न प्रकार से बताया है — **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।** अर्थाद् जिसके कारण मनुष्य को (क) जागतिक पदार्थों के रूप में सुख के साधन मिलते हैं, वह और (ख) जिससे परम सुख की प्राप्ति होती है, वह 'धर्म' होता है। पूर्व-मीमांसा दर्शन में वेद में, अर्थात् शास्त्रों में, कर्त्तव्य के प्रति प्रेरणा के रूप में जो मार्ग दिखाया है, वह 'धर्म' बताया है — **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।** वैशेषिकोक्त और मीमांसा-दर्शनोक्त धर्मलक्षणों में स्पष्ट शब्दों में तो नहीं कहा, पर दोनों का ही तात्पर्य आचरण को धर्म का आधार बताने से है।

मनुष्य का आचरण प्रत्यक्ष है, तो उसका फल भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिये। अतः धर्म भी वस्तुतः दृष्ट ही होना चाहिये। परन्तु **न्यायदर्शन** में धर्म को 'अदृष्ट' शब्द से कहा गया है। इससे धर्म के 'अभ्युदय' पक्ष की तो सर्वथा उपेक्षा हो गई और 'निःश्रेयस', अर्थात् मोक्ष, भी परोक्ष हो गया। बन्धन का दुःख जब प्राणी को पल-पल प्रत्यक्ष होता है, तब 'निःश्रेयस' के अर्थ बन्धनमुक्ति से होने वाले दुःखध्वंस अथवा सुख का अनुभव प्रतिपल क्यों नहीं होगा? वस्तुतः 'निःश्रेयस' का अर्थ जब मीमांसादर्शन की स्वर्गादिकल्पना से आगे नहीं बढ़ पाया, तब उस अदृष्ट स्वर्गफल के साधक आचरण का स्वरूप और फल भी अदृष्ट ही हो गया।

धर्म की पूर्वमीमांसा द्वारा कल्पित और न्यायदर्शन द्वारा स्पष्टीकृत व्याख्या का परिणाम यह हुआ कि हमारा समाज प्रत्यक्ष को छोड़कर परोक्ष की कल्पनाओं में सुख की खोज करने लगा और कर्मकाण्ड ने मनुष्य की तार्किकता को व्यर्थ करार दे दिया। यास्काचार्य के निरुक्त में एक प्रसङ्ग में बताया गया है कि धर्म

जिन्हें प्रत्यक्ष था, वे ऋषिलोग जब इस लोक से प्रयाण करने लगे, तब पीछे रह रहे लोगों ने उनसे पूछा कि हमें धर्म का स्वरूप कौन प्रत्यक्ष कराएगा? तब ऋषियों ने उन्हें 'तर्क' को ऋषि के रूप में बताकर कहा, 'यह आप लोगों को धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष कराएगा'।[1] पर कर्मकाण्ड की अदृष्टकल्पना ने मनुष्य को तर्क के इस महत्त्व से सर्वथा दूर कर दिया और कर्मकाण्ड का सम्बन्ध 'श्रद्धा' (Faith) से एक बार जो जुड़ा, तो उसका तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। ऋग्वेद के एक सूक्त में इन्द्र के प्रत्यक्ष कार्यों के आधार पर इन्द्र में श्रद्धा करने को कहा गया है – **श्रदस्मै धत्त, स जनास इन्द्रः** (ऋ0सं0 2.12.5)। दृष्ट, प्रत्यक्ष, से श्रद्धा का सम्बन्ध टूटने का परिणाम बहुत विनाशकारी, अज्ञान का वर्धक हुआ। 'धर्म' और 'अदृष्ट' के पर्याय होने का असर हमारी समूची संस्कृति पर पड़ा। जो बात सीधी-सादी थी, उसे परोक्ष करके कहना बहुत आदरणीय हो गया — **परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः** (शतपथब्राह्मण 14.6.11.2)। अर्थाद् देव (बुद्धिमान्) लोगों को परोक्षकथन (घुमा-फिराकर, प्रतीकों के माध्यम से, व्यञ्जना से बात कहना) प्रिय होता है। वे प्रत्यक्ष कथन, अभिधा से द्वेष करते हैं। इसके परिणामस्वरूप वेद की बात को समझाकर कहने के लिये प्रवर्तित इतिहास पुराण भी वेद की बात गूढ प्रतीकों के माध्यम से कहने लगे। साङ्ख्य के त्रिविध अहंकारों को 'ब्रह्मा', 'विष्णु', 'शिव' के रूप में परोक्ष (पुरुषविध) रूप में ऐसे कहा गया कि जनसाधारण ही नहीं, पण्डित जन भी इन्हें देवपिण्ड के रूप में मानकर जटिल कर्मकाण्ड से इनकी आराधना-उपासना करने लगे। वैयाकरण आचार्य पतञ्जलि ने वर्तमान काल में 'सनातनी' के नाम से अभिहित जनता में एकमात्र प्रचलित मूर्तिपूजा के प्रवर्तन के बारे में बताया है कि खजाने को सोने से भरना चाहने वाले मौर्य राजाओं ने प्रतिमापूजा का प्रवर्तन किया।[2] 'वृत्र' का वर्णन वेद में एक प्राकृतिक दृश्य को पुरुषविध रूप में प्रस्तुत करके किया गया है। इसमें परोक्षता इतनी ही है जितनी की काव्य में होती है, 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' की कथाओं में है। निरुक्त (2.1.6) में 'वृत्र' के इस रूप को निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट

1. निरुक्त 13.12 : **मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्, 'को न ऋषिर्भविष्यति' इति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहति, आर्षं तद् भवति।**

2. महाभाष्य 5.3.99 : **मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः।** कौटिलीय अर्थशास्त्र 5.21 भी देखें।

किया गया है। परन्तु कालान्तर में 'वृत्र' नामक असुर व्यक्ति बताने वाले ऐतिहासिकों का मत भी निरुक्त के मूल पाठ में सम्मिलित हो गया[1] ॥

इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप हमारा साहित्य ऊपर से प्रत्यक्षसिद्ध के रूप में वर्णित किन्तु वस्तुतः परोक्ष ही नहीं, अत्यन्त परोक्ष तात्पर्य वाली कथाओं से भरा पड़ा है। इसे समझना आज टेढ़ी खीर हो गया है और पण्डित लोग इस साहित्य के गूढार्थ की व्याख्या कथाओं के रूप में मनमाने ढंग से कर रहे हैं।

कुछ तो साक्षरता के प्रसार से, कुछ विज्ञान की कृपा से आज प्रत्यक्ष का और तर्क का महत्त्व फिर से बढ़ने लगा है। इसके दो परिणाम हुए हैं —

(क) परोक्ष पर आधारित कर्मकाण्ड की पकड़ कर्मकाण्ड कराने वाले और यजमान दोनों प्रकार की जनता पर कम हुई है। इसके परिणामस्वरूप कर्मकाण्ड के बहुत से अनुष्ठान आज लोप के कगार पर हैं। इनके जानकार पण्डित ही नहीं मिलते।

(ख) तर्क पर आधारित कथाओं, व्याख्यानों में लोगों की रुचि बढ़ रही है। यह अलग बात है कि इनके व्याख्याता स्वाध्याय में रुचि न होने के कारण इनकी परोक्षता का भेदन नहीं कर पाते हैं और यह सब भी कर्मकाण्ड का विकृत रूप ही बनता जा रहा है।

'श्रीदुर्गासप्तशती' का लोक में दुर्गोपासना के कर्मकाण्ड के रूप में बहुत प्रचलन है: **कलौ दुर्गाविनायकौ।** पर दुर्गा के शास्त्रीय स्वरूप और इसके प्रतीकार्थ की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जाता। प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से 'श्रीदुर्गासप्तशती' के इसी तात्पर्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। विषय की गम्भीरता तथा इस प्रकार की व्याख्या लोक में परिचित न होने से स्पष्टता के लिये बहुत-सी बातों की पुनरुक्ति भी हो गई है। और भी बहुत त्रुटियाँ और कमियाँ इस में होंगी। इस सब के लिए मैं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ और विद्वज्जन से प्रार्थना है कि वे स्वयं तो इन त्रुटियों और कमियों को दूर करके ग्रन्थ को पढ़ेंगे ही, मुझे उनसे परिचित कराने में तनिक भी संकोच अथवा आलस्य नहीं करेंगे।

इस ग्रन्थ का प्रारम्भ श्रीगौरीशंकरमन्दिर (श्रीकिरोड़ीमल मन्दिर), बिचला बाजार, भिवानी, में कथा (प्रवचन) के रूप में हुआ था। इस कार्यक्रम में हर

1. तत् को वृत्रः? 'मेघ' इति नैरुक्ताः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभाकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमाऽर्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत् तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्त्रोतांसि निवारयांचकार। (निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ 220, पादटिप्पणी 1)।

प्रकार से सहायता करके चण्डीपाठ तथा कथा को सम्भव करने में प्रमुख भूमिका निभाने वाले सज्जनों का मैं बहुत आभारी हूँ। इनमें प्रमुख हैं- (1) श्रीकिरोड़ीमल धर्मार्थ न्यास के न्यासी **श्रीकालीचरण केशान**, मन्दिर के प्रबन्धक **श्रीसत्यनारायण गुप्त, श्रीरमेश सिंहल, डॉ0 रामेश्वरदत्त शर्मा**, चण्डीपाठ के आचार्य तथा कथा के नियमित श्रोता **सर्वश्री पं0 यशपाल, विनोद शास्त्री, पं0 नफेसिंह शर्मा, पं0 पीताम्बर भारद्वाज, सतीश कुमार लीखा** एवं जिनके लिये चण्डीपाठ और कथा का यह आयोजन किया गया था, वे श्रीरामसहाय वेदवेदाङ्ग विद्यालय, भिवानी के 18 छात्र। महाकवि कविराज वैद्य श्रीसत्यनारायणशर्मा जी ने ग्रन्थ का आद्यन्त अवलोकन करके अत्यन्त उपयोगी सुझाव दिये। इसके लिये मैं इनका हृदय से आभारी हूँ।

ग्रन्थ की प्रेसकापी तैयार करने और प्रूफशोधन के कष्टसाध्य कार्य में सहायता देकर श्रीरामसहाय वेदवेदाङ्गविद्यालय, भिवानी (हरि0) के आचार्य पण्डित श्रीविष्णुप्रसाद व्याकरणाचार्य ने प्रकृत ग्रन्थ के प्रकाशन को संभव बनाया है। **चि0 उमेश शर्मा** ने इस को संगणक पर टङ्कित करके शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने का स्तुत्य कार्य किया है।

मैं इन सब महानुभावों का बहुत आभारी हूँ।

यह कार्य माँ जगदम्बा के नाम से जुड़ा होने और विषय वस्तु के कारण ही, बहुत पवित्र है। इसे पूज्य माता-पिता की स्मृति में कल्पित **वेदमन्दिर-ग्रन्थकुसुमाञ्जलि** के द्वितीय कुसुम के रूप में प्रकाशित और उनके स्मृतिशेष श्रीचरणों में समर्पित करके और अधिक पवित्र करने का प्रयास किया है।

अस्वस्थ होते हुए भी मेरी अर्धाङ्गिनी **श्रीमती कुसुम शर्मा** मुझे गृहचिन्ताभार से सर्वथा मुक्त रखकर मुझे तन मन में रची बसी स्नेहमयी शारदा माँ की गोदी में रहने का तथा नरनारायण की सेवा का जो अवसर प्रदान करती हैं, उसके लिए मैं अपने Better Half का आभार किन शब्दों में प्रकट करूँ?

दिल्लीसंस्कृतअकादमी ने प्रकाशनानुदान की उदारता से इसके प्रकाशन को शक्य बनाया। एतदर्थ मैं अकादमी का अत्यन्त आभारी हूँ। अन्त में, जिन लोगों के प्रत्यक्ष, परोक्ष सहयोग से यह कार्य सम्पन्न कर सका हूँ, उन सबको सादर श्रद्धासुमन अर्पित करके अपनी लेखनी को विराम देता हूँ ।

2149–50/13 हुडा, भिवानी।

शिवनारायणः शास्त्री।

दूरभाष : 01664-256272, 204-366

ज्येष्ठ कृष्ण प्रतिपदा, 2062 वि0 (24 मई 2005 ई0)

विषयानुक्रमणी

समर्पणम् (पृष्ठ १) प्रकाशकीय वक्तव्य (२)
भूमिका (३) विषयानुक्रमणी (१२-१४)

श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श: (१५ – १०९)

1. प्रथम अध्याय (पृष्ठ 15) – मङ्गलाचरण श्लोकसंख्या १, ग्रन्थप्रारम्भतिथि २, विषयप्रस्तुति ५, जड़, चेतन पदार्थ जगत् का मूल हैं ७, गुणविशेष से संपर्क के कारण चेतन के तीन नाम ११, जड़-चेतन के अमुक-अमुक संपर्कों के नाम १२, 'महत्' तत्त्व की त्रिविध अभिव्यक्ति १६, दुर्गा और सुगा में भेद २०, अहंकार जगत् का कारण है २१, अहंकार के उपासकों के तीन भेद २२, बन्धन और मुक्ति का स्वरूप २७, श्रीदुर्गासप्तशती की कथा का विश्लेषण ३१, 'ऐं' बीजमन्त्र की व्याख्या ३६, महाकाली निद्रा के रूप में वर्णित है ३८, कथा के पात्रों का विवेचन ४०, राजा सुरथ अधम जिज्ञासु है ४२, वैश्य मध्यम जिज्ञासु है ४६, 'मेधस्', 'सुरथ' और 'समाधि' नामों की व्याख्या ४८, प्रथम अध्याय का जगदम्बा को समर्पण ५२-५४॥

2. द्वितीय अध्याय (पृष्ठ 26) – श्रीदुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय की कथा १, मुनि के उपदेश की व्याख्या ४, जगत् प्रवाह के समान नित्य है १४, विष्णु के नाभिकमल में ब्रह्मा की उत्पत्ति क़ा तात्पर्य १९, 'ब्रह्मा' और 'विष्णु' केद स्वरूप का तात्पर्य २४, 'मधु' , 'कैटभ' का तात्पर्य २६, 'मधु' और 'कैटभ' से त्रस्त ब्रह्मा द्वारा योगनिद्रा की स्तुति ३२, योगनिद्रा की स्तुति की व्याख्या ३५, महाकाली का ध्यान ४१, इस की व्याख्या ४२, चित्स्वरूप ब्रह्म तीन गुणों में व्यक्त होता है ४४, जगदम्बा का आश्रय लेनेपर मोह का नाश हो जाता है ४५, अध्याय का उपसंहार ५१-५२॥

3. तृतीय अध्याय (पृष्ठ 36) – महालक्ष्मी का ध्यान १, महालक्ष्मी का स्वरूप २, अठारह भुजाओं का तात्पर्य ४, महालक्ष्मी के आयुधों का तात्पर्य ५, महालक्ष्मी और महिष का तात्पर्य १०, 'ह्रीं' बीजमन्त्र की व्याख्या १३, 'देव', 'असुर' और 'पुरन्दर' का तात्पर्य १६, 'महिषासुर' क्या है १९, महिषासुर का विनाश किस तत्त्व से हो सकता है २२, इतिहास में महिषासुरों के उदाहरण २६, मनुष्य को महिष बनाने वाले दोष ३१, धर्म का स्वरूप ३३, 'भगवान्' और 'भगवती' में भेद ३९, देवों का वाहन धर्म है ४१, वाहन के रूप में पशु, पक्षियों की कल्पना का तात्पर्य ४२, गोस्वामी तुलसीदास द्वारा निरूपित धर्मरथ ४४, गरुड आदि धर्म ही हैं ४६, देवों के वाहनों का स्वरूप ४७, देवी और असुर के युद्ध का तात्पर्य ५६, इच्छापूर्ति होने पर देवों द्वारा देवी की स्तुति ५८, ग्रन्थकार की प्रार्थना ६०-६१॥

4. चतुर्थ अध्याय (पृष्ठ 48) – महिषमर्दिनी का ध्यान १, महिषासुर

के विनाश का उपाय २, महिषासुरमर्दिनी के ध्यान की व्याख्या ३, महिषासुर के सेनापतियों का तात्पर्य १७, 'काम' आदि का स्वरूप २२, इच्छा की पूर्ति और अपूर्ति के फलों की तुलना २५, चिक्षुर और चामर से सिंह के युद्ध का तात्पर्य २६, देवी और महिषासुर के युद्ध का तात्पर्य ३२, महिष का नाश धर्म के अविरोधी आचरण से होता है ३५, देवी द्वारा मधुपान का तात्पर्य ३९, देवी द्वारा महिषासुर का वध ४०, अध्याय की समाप्ति का समय ४२॥

5. पञ्चम अध्याय (पृष्ठ 56) – कृतज्ञ देवों द्वारा देवी की स्तुति १, भक्तों का शुभ करने की प्रार्थना २, लक्ष्मी, अलक्ष्मी, बुद्धि, लज्जा आदि गुणों के रूप में जगदम्बा ही है ४, प्रवृत्तिमार्ग जगदम्बा ही है ७, निवृत्तिमार्ग भी वही है ११, दिशा और काल की सीमा से रहित वेद भगवती ही है १४, वेद का स्वरूप १५, महिषभाव की व्याख्या २४, भगवती के क्रोध और प्रसाद के फल का भेद २८, रक्षा की प्रार्थना ३५, ग्रन्थकार की प्रार्थना ३९, अध्यायसमाप्ति की तिथि ४२-४३॥

6. छठा अध्याय (पृष्ठ 64) – मङ्गलाचरण १, 'रजस्' शब्द की व्याख्या ४, महासरस्वती का ध्यान ५, ध्यान की व्याख्या ६, 'क्लीँ' बीजमन्त्र की व्याख्या १२, शुम्भ की दो वर्तनी तथा उन का अर्थ १६, शुम्भ के सहायक भाव - (1) निशुम्भ २१, (2-3) चण्ड और मुण्ड २३, (4) सुग्रीव २६, मनुष्य को शुम्भ बनाने वाले अन्य दोष २८, शुम्भ बनाने वाली दो प्रवृत्तियाँ - (1) धूम्राक्ष ३५, (2) रक्तबीज ३७, रूपक का उपसंहार ४१, शुम्भ स्वभाव के विनाश के लाभ ४८, ग्रन्थकार की प्रार्थना ५१-५२॥

7. सप्तम अध्याय (पृष्ठ 74) – उत्तम चरित्र के प्रतीकों की व्याख्या २, सरस्वती का स्वरूप ८, देवों द्वारा सरस्वती की स्तुति १३, गङ्गा, पार्वती आदि तत्त्वों की व्याख्या ३२, देवी को पाने के लिये शुम्भ के (क) शान्तिप्रयास ३७, (ख) बलप्रयोग ४३, धूम्राक्षविनाश का तात्पर्य ४७, धर्मरूप सिंह का स्वरूप ४८, चण्ड और मुण्ड का वध ५५, 'चामुण्डा' नामकरण ६०, ग्रन्थकार की प्रार्थना ६२-६३॥

8. अष्टम अध्यायः (पृष्ठ 84) – मङ्गलाचरण १, चामुण्डा का स्वरूप २, कथासूत्र ३, देवों की शक्तियाँ चण्डिका के पास आई ५, 'सुर' शब्द का अर्थ ९, शिवदूती का प्रादुर्भाव ११, देवी का असुरों के साथ युद्ध १६, 'रक्तबीज' का तात्पर्य १८, रक्तबीज के वध का उपाय २२, इस की व्याख्या २४, श्रीदुर्गासप्तशती के नौवें अध्याय का ध्यान २६, इसकी व्याख्या २७, इस ध्यान में व्यक्त स्वरूप भक्तों का रक्षक है ३१, शुम्भ और निशुम्भ का क्रोध ३५, शुम्भ, निशुम्भ का देवी के साथ युद्ध ३७, शुम्भ की आठ भुजाओं का तात्पर्य ४१, शुम्भ और निशुम्भ की मूर्च्छा का तात्पर्य ४४, निशुम्भ का वध ४५, अकेली लड़ने के लिये शुम्भ द्वारा देवी का आवाहन ४६, देवी का उत्तर ४८, उसकी व्याख्या ४९, शुम्भ, निशुम्भ प्रवृत्तियों का संघर्ष सदा चलता रहता है ५१, सदोष और निर्दोष प्रवृत्तियों में भेद

कठिन नहीं है ६०, शुम्भप्रवृत्ति का विनाश होने पर जगत् के सुख का वर्णन ६३-६४॥

9. नवम अध्याय (पृष्ठ 95) — मङ्गलाचरण १, देवों द्वारा देवी की स्तुति २, देवी द्वारा भक्तों की रक्षा के लिये धृत अन्य नाम और रूप २५, भक्तों की रक्षा के लिये देवी की प्रतिज्ञा ३२, प्रवृत्तिमार्ग में मनुष्य के मोह की प्रक्रिया ३३, उसके दो उदाहरण - (१) राजा सुरथ, (२) समाधि वैश्य ४०-४५॥

10. दशम अध्याय (पृष्ठ 103) — मोक्षप्राप्ति का मार्ग १, मोक्ष के स्तरभेद ४, उत्तम बन्धनमुक्ति की कामना लोग नहीं करते ५, मोक्ष के इच्छुक को क्या करना चाहिये १३, साध्य और साधन, दोनों, की शुद्धि आवश्यक है १६, महात्मा गाँधी का अभीष्ट १७, बन्धन और मुक्ति का स्वरूप १८, सन्न्यास का तात्पर्य १९, सन्न्यासी ही शेष पर सोता है ३३, ग्रन्थकार की प्रार्थना ३५, अध्यायसमाप्ति का समय ३६॥

अपने विषय में (१०९-१४२)

11. एकादश अध्याय (पृष्ठ 109) — मङ्गलाचरण १, ग्रन्थकार की कामना २, ग्रन्थकार की भाग्यशालिता ६, ग्रन्थकार की गुरुपरम्परा (भिवानी, अमृतसर और काशी में) १२, दिल्लीविश्वविद्यालय में २०, बड़ौदा में २७, इन गुरुओं की प्रशंसा ३०, विद्या का उपयोग सिखाने वाले गुरु ३३, उनके उपदेश का पालन ३६, उपसंहार ४०-४२ ॥

12. द्वादश अध्याय (पृष्ठ 117) — शास्त्रपारायण का फल १, (क) प्रकाशित 12 ग्रन्थ २, इनका विद्वानों द्वारा आदर ११, (ख) अप्रकाशित 10 ग्रन्थ १५, भिवानी आने के बाद लिखित ग्रन्थ ४४, पश्चिम के प्रभाव से संस्कारों का लोप हो रहा है ५४, कर्मकाण्डी लोगों की उदासीनता ५७, संस्कार नाममात्र को रह गए हैं ६०, इस का उपाय ६३-६५ ॥

13. त्रयोदश अध्याय (पृष्ठ 130-142) — मङ्गलाचरण १, परा विद्या के गुरु (८-२६) —(१) पूज्य **पिता जी** १३, (२) **श्रीहरिराम भाडा** जी १६, **(३) दण्डीस्वामी श्रीभूमानन्द तीर्थ जी** १९, हनूमान् जी की उपासना में चण्डिका का प्रादुर्भाव २१, गुरुदीक्षा २७, **(४) श्रद्धा माता** २८, साधना काल में भीषण रोग ३२, इस स्थिति में जगदम्बा की कृपा ३४, मूर्च्छा (Coma)की समाप्ति के बाद जगदम्बा की कृपा ३७, इस कृपा का प्रभाव ४०, गुरुओं की महिमा ४३, ऋण से मुक्ति का सन्तोष ४६, उपसंहार ५२, ग्रन्थकार की कामना ५६, ग्रन्थरचना के विषय में ५७, अन्तिम तीन (११-१३) अध्याय आत्मप्रशंसा के लिये नहीं हैं ६२, त्रुटियों के लिये क्षमाप्रार्थना ६५, यह ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य ६८, समर्पण ७०-७१ ॥

॥ ॐ शान्तिः ॥

श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शः

प्रथमोऽध्यायः

(मङ्गलम्)

अस्ति भाति प्रियं चेति, ब्रह्मणो लक्षणत्रयम्।
सच्चिदानन्दनामैतद्, व्यज्यते यत्र तां नुमः॥ १

श्रावण बदि की सप्तमी, मन्मथ नामक वर्ष।
दो हजार पर ऊनसठ, साल तथा बुधवार॥
प्रातः आठ पचीस पर, शिवनारायण विप्र।
हिन्दी में हूँ लिख रहा, दुर्गातत्त्वविमर्श॥
संस्कृत में जो है लिखा, उसका ये व्याख्यान।
दुर्गा का जो मर्म है, उसका करुँ बखान॥
माता मुझ को शक्ति दे, कहता शास्त्र विचार।
हिरदै में माता करी, चरणकमल पै ध्यान॥
मन भौंरा डोला करे, जग में हो शुभ वास।
माता की सेवा करूँ, बन क़र वा का बाल॥

(१) अस्तित्व, (२) प्रकाशित रहना और (३) प्रिय होना — (१) सत्, (२) चित् और (३) आनन्द— ब्रह्म के स्वरूप को प्रकट करने वाले ये तीन धर्म जिसमें प्रकट होते हैं, उस (१) रजस्, (२) सत्त्व और (३) तमस् स्वरूप वाली भगवती को हम प्रणाम करते हैं॥ २

(ग्रन्थप्रारम्भतिथिः)

आषाढे शुदि द्वादश्यां, भानौ प्रातः शुचिर्मुनिः।
ऊनषष्ट्युत्तरे वर्षे वैक्रमे, मन्मथाह्वये ॥ २
सद्भाग्येन गुरूणां वा आशीर्भिर्योजितः शुभैः।
पराम्बाचरणौ ध्यात्वा तत्प्रकाशेन संयुतः ॥ ३
सीताऽम्बां श्रीनिवासं च, तातं ध्यात्वा पवित्रितः।
शिवनारायणः शास्त्री, दुर्गातत्त्वविमर्शनम्॥ ४
यथामति करोम्येष, कृपाऽनुज्ञे समाश्रितः।

विक्रमसंवत् 2059, 'मन्मथ' नामक संवत्सर, आषाढ, शुक्ल पक्ष, द्वादशी, रविवार, प्रातः पाँच बजकर चालीस मिनट पर स्नानादि से शुद्ध होकर बाह्य वृत्तियों को अन्तर्मुख करके, जगत् की मूल उपादान कारण दुर्गा का ध्यान करके, उसके प्रकाश से युक्त मैं शिवनारायण शास्त्री अपनी जननी श्रीमती सीतादेवी और पिता

श्रीश्रीनिवास शास्त्री का ध्यान करके पवित्र होकर जगदम्बा की कृपा और अनुमति प्राप्त कर अपनी जन्मजात और शास्त्राभ्यास से सम्पन्न बुद्धि के अनुसार दुर्गासप्तशतीप्रोक्त दुर्गामाता के स्वरूप पर, उसके प्रतीकों पर, विचार-विमर्श कर रहा हूँ॥ २-४

(विषयप्रस्तुतिः)

वर्षर्तौ नवरात्रे च कथाव्याजेन शाश्वतीम्॥ ५
समुपास्य परामम्बां तत्त्वं बुद्ध्वा मनागयम्।
प्रोत्साहितश्च चापल्याद् व्याख्याने कुरुते मतिम्॥ ६

वर्षाकालीन गुप्त नवरात्र (११-१८ जुलाई २००२) के अवसर पर श्रीगौरीशंकरमन्दिर, भिवानी, में ज्योतिषकर्मकाण्डशिक्षणकेन्द्र के १८ छात्रों को विधिपक्ष सिखलाने के लिए श्रीयशपाल शास्त्री के आचार्यत्व में प्रवृत्त चण्डीपाठ के समय उन्हें तथा श्रद्धालुओं को श्रीदुर्गासप्तशती का रहस्य समझाने के लिये कथा कहने के बहाने से जगदम्बा की उपासना करके उससे उसके स्वरूप को मैंने थोड़ा समझा और उसकी व्याख्या करने का उत्साह मुझ में उत्पन्न हुआ। फिर उतावलेपन में उसकी व्याख्या करने की अपनी बुद्धि बना रहा हूँ॥ ५-६

(चेतनाचेतने तत्त्वे जगतो मूलम्)

सत्त्वं रजस्तमश्चेति, सांख्ये प्रोक्तास्त्रयो गुणाः।
सर्वे यदा समानास्ते प्रकृतिर्लोककारणम्॥ ७
साम्ये यावत् स्थिताश्चैते जगतां व्यञ्जनेऽक्षमाः।
अव्यक्तमिति ते साम्ये मूलं प्रधानकारणम्॥ ८
जडाऽसौ प्रकृतिस्तावच्चेतनं ब्रह्म चोच्यते।
उभयोरपि संयोगाज्जगतां सम्भवो मतः॥ ९
चेतनं पूरयत्येतदित्यव्यक्तं भवेच्च पूः।
पुरि यद् वसति ब्रह्म पुरुषस्तेन चोच्यते॥ १०

सम अवस्था में स्थित सत्त्व, रजस्, और तमस् नामक तीन गुण जगत् का उपादान कारण होने के कारण 'प्रकृति' कहलाते हैं। जब तक ये तीन गुण सम स्थिति में रहते हैं, इनसे जगत् नहीं बनता, जगत् की उत्पत्ति (व्यक्तता) नहीं होती। अतः ये तीनों गुण 'प्रकृति' या 'अव्यक्त' कहलाते हैं। दर्शनशास्त्र के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं— चेतन और अचेतन। चेतन को 'ब्रह्म' (पुरुष) कहते हैं। अचेतन जड़ को 'प्रकृति'। चेतन के द्वारा पूरयितव्य होने से 'पुर्' और इसमें वास करने वाला होने से (पुर+वस् से) चेतन को 'पुरुष' भी कहा जाता है॥ ७-१०

(गुणविशेषयोगेन चेतनस्य नामानि)

सत्त्वस्थं विष्णुनामेदं रजःस्थं ब्रह्मनामकम्।
तमस्थं शिवनामेति मुनिभिः कीर्तितं च तत्॥ ११

इनमें से सत्त्व गुण जब प्रधान होता है, अन्य दो गुण उससे दबे हुए होते हैं, तब उसमें स्थित चैतन्य को मुनि लोगों ने 'विष्णु' कहा है। जब रजोगुण की प्रधानता और सत्त्व तथा तमस् की गौणता होती है, तब प्रधानभूत रजोगुण में व्यक्त चैतन्य को 'ब्रह्मा' और सत्त्व तथा रजस् की गौणता होने पर प्रधानभूत तमस् में व्यक्त चैतन्य को 'शिव' कहा गया है॥ ११

(चेतनाचेतनयोः सम्पर्कविशेषाणां नामानि)

साम्यावस्था गुणानां या, त्रिगुणा जगदम्बिका।
पुरुषस्पर्शतः सैव विषमा याति व्यक्तताम्॥ १२
अव्यक्तेन तु चैतन्य-सम्पर्को जायते यदा।
साम्ये भवति संक्षोभस्तेन वै विषमा गुणाः॥ १३

सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की समान अवस्था जो होती है, वह 'प्रकृति' अवस्था ही 'त्रिगुणा जगदम्बा' कहलाती है। चेतन तत्त्व पुरुष का सान्निध्य पाकर उसकी वह क्षमता भंग हो जाती है और विषम स्थिति को प्राप्त ये गुण पृथक्-पृथक् सत्त्व, रजस् और तमस् के रूप में प्रकट हो जाते हैं। सम अर्थात् अव्यक्त अवस्था में स्थित गुणत्रय के साथ-साथ जब चैतन्य (पुरुष) का सम्पर्क होता है, तब समता की स्थिति में कुछ विचलन हो जाता है। इस विचलन अर्थात् संक्षोभ के कारण गुणों में विषमता आ जाती है॥ १२-१३

येयं क्षोभस्थितिः सेयं, महत् कापिल उच्यते।
अवस्था साऽऽदिमा व्यक्तिर्जगतां चादिमा स्थितिः॥ १४
यन्महत् साऽऽदिमा व्यक्तिर्नेदृक्त्वेयत्त्वसंयुता।
महद्वा आदिमा व्यक्तिरन्तिमा चास्मदादयः॥ १५

तीन गुणों की समता में विचलन की यह जो स्थिति है, इसे कपिल मुनि के सांख्य शास्त्र में 'महत्' कहा गया है। अव्यक्त अवस्था में व्यक्त होने की यह पहली स्थिति है और जगत् की उत्पत्ति की भी आदिम अवस्था है। यह अवस्था परवर्ती समस्त सृष्टि का मात्रा और स्वरूप की सीमा से पर, असीम, रूप होने से 'महत्' के रूप में परिभाषित की गई है। यह जगत् के व्यक्त होने की आदिम स्थिति है, तो हम, आप, समस्त भूत और भौतिक जगत् जिसमें शामिल हैं, वह इस व्यक्तता की अन्तिम अवस्था है॥ १४-१५

(महतस्त्रिविधा व्यक्तिः)

क्षोभात्पश्चाद्गुणा व्यक्ता भवन्ति च पृथक्पृथक्।
तेषु चैतन्यसंस्पर्शेऽहंकारास्ते त्रयोऽभवन्॥ १६
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्चेति भेदतः।
तामसो भगवान् रुद्रः, शिवोऽयमशिवोऽपि च॥ १७
घोरश्चाघोररूपोऽसावभवो भव उच्यते।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च कैलासस्थः श्मशानराट्॥ १८

साम्यावस्था में क्षोभ, विचलन, विषमता की स्थिति आने के पश्चात् तीनों गुण अलग-अलग भासित होने लगते हैं। इन तीनों से जब पृथक्-पृथग् रूप में चैतन्य का सम्पर्क होता है, तब चेतनसमवेत ये तीनों गुण पृथक्-पृथग् रूप में पहचान में आते हैं और अपने अलग-अलग स्वरूप के कारण इन्हें 'तीन अहंकार' कहा गया है:— सात्त्विक अहंकार, राजस अहंकार और तामस अहंकार। इनमें से तामस अहंकार (तमोगुण में अभिव्यक्त चैतन्य) को पुराणों में भगवान् 'रुद्र' कहा गया है। यह तमोमय होने से जागतिक मोह से ग्रस्त मनुष्य के लिये यद्यपि अशिव (जगद्विनाशक होने से अमंगलमय) है, तथापि तात्त्विक दृष्टि वाले के लिये शिव (मंगलमय) है। इसी दृष्टिभेद के कारण यह घोर, भंयकर और अघोर, सौम्य, अभव और भव है। तामस अहंकार के स्वरूप की यह भिन्नता मनुष्य के दृष्टिभेद पर आधारित होती है। जो प्रवृत्तिमार्गी हैं, उन्हें यह तामस अहंकार घोर, अमंगल प्रतीत होता है और जो निवृत्तिमार्गी होते हैं, उन्हें यह सौम्य, शिव प्रतीत होता है। इसके कैलासवासी और श्मशानवासी कहे जाने का भी यही रहस्य है॥ १६-१८

चैतन्यं सत्त्वगं विष्णू रजःस्थं ब्रह्मनामकम्।
तमस्थं शिवनामेति चैतन्यं त्रिविधं च तत्॥ १९

सत्त्वगुण में प्रकट चैतन्य को पुराणों में 'विष्णु' कहा गया है और रजोगुण में व्यक्त चैतन्य को 'ब्रह्मा' कहा गया है। तमोगुण में व्यक्त चैतन्य को 'शिव' कहा गया है, यह ऊपर बताया है। इस प्रकार तीन गुणों में व्यक्त यह चैतन्य तीन रूपों में प्रकट, व्यक्त हुआ है॥ १९

(दुर्गा-सुगयोर्भेदः)

त्रिगुणा जगदम्बा सा व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
दुर्गा मायाविमूढानां भक्तानां सुगमा परा॥ २०

सममार्ग में विद्यमान तीन गुणों के स्वरूप में इस प्रकृति को जगत् का निर्माण करने वाली (उपादान कारण) होने से 'माँ' कहा गया है। यह अव्यक्त और व्यक्त दो अवस्थाओं में है। माया के जाल में पड़े लोगों के लिए दुर्गम होने से यह दुर्गा है और भक्तों के लिए परम सुगम है॥ २०

(अहंकारो लोककारणम्)

देहाभिमानोऽहंकारो ममत्वं गेहमाश्रितम्।
अहंकारस्तथा चैष त्रिविधो लोककारणम्॥ २१

अपने देह को ही 'मैं' समझना 'अहं' भाव है और शरीर की सुविधा के लिए जुटाई घर-गृहस्थी आदि चीजों को उस 'मैं' से सम्बन्ध के कारण 'मम' (मेरा) भाव से कहा जाता है। ये दोनों (क) 'मैं', 'तू', 'वह' तथा (ख) 'तेरे', 'मेरे', 'उसके' भाव वस्तु के स्वरूप की ठीक से पहचान न होने (मोह) पर आश्रित होते हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् की प्रधानता के कारण ये 'अहं' और 'मम' भाव भी तीन प्रकार के होते हैं। इन्द्रियों का विषय यह संसार इन ('मैं-तू' और 'तेर-मेर') भावों पर आधारित है॥ २१

ब्रह्मविष्णुशिवाख्यः स दृश्यते त्वाधिदैविकः।

प्राचीन परम्परा के अनुसार जगत् के तीन स्तर निरूपित किये गये है : (क) सब को अत्यन्त निकट अत एव प्रिय शरीर और इसमें स्थित प्राण, कर्मज्ञानेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को अपना आपा समझा जाने से 'अध्यात्म' कहा गया है। (ख) ये सब जिन तत्त्वों से बने हैं, वे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्व 'अधिभूत' हैं। (ग) इनमें व्याप्त चैतन्य तत्त्व को 'अधिदेव' कहा गया है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में इसी चैतन्य तत्त्व को जड़, चेतन के समवाय के रूप में देवतत्त्व की प्रधानता को दृष्टि में रखते हुए 'अधिदैव' कहा गया है॥

(अहंकारोपासका अपि त्रिविधाः)

लोकेऽपि ये जनास्तत्र संवित्प्रकाशसंयुताः॥ २२
विवेकिनश्च सत्त्वस्था विष्णोस्ते प्रियतां गताः।
अपरस्यां च विद्यायां ज्ञानविज्ञानशिल्पतः॥ २३
आत्मव्यक्तिं समीहन्ते ब्रह्मणस्ते प्रिया जनाः।
देहगेहरता ये तु केवलं स्वार्थचिन्तकाः॥ २४
तामस्यहंकृतिस्ताँस्तु चालयतीति दृश्यताम्।
त्रिविधा ममता चापि तत्सम्बद्धाभिमानतः॥ २५

दुनियाँदारी में भी लोगों के ये ही तीन भेद होते हैं :—(क) जो लोग

ज्ञान के प्रकाश से युक्त हैं, वे मनुष्य सत् और असत् , उचित और अनुचित, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में भेद करने में समर्थ होते हैं। उनमें चैतन्य सत्त्व गुण में व्यक्त होता है और वे 'विष्णु' के प्रिय होते हैं। (ख) जो लोग अपरा (लौकिक) विद्याओं, ज्ञान-विज्ञान और शिल्पों में अपने को प्रकट करना चाहते हैं, वे रजोगुणी लोग 'ब्रह्मा' के प्रिय होते हैं। (ग) इसके विपरीत जो लोग अपने शरीर 'मैं', 'तू' और उससे सम्बद्ध पदार्थों में, तेर-मेर में, रमे रहते है, केवल अपने और अपनों के लिए ही सोचते हैं, उन्हें तमोगुणप्रधान अहंकार ही परिचालित करता है। इसी प्रकार उस शरीर से सम्बन्धित पदार्थों से सम्बन्धों के सात्त्विक, राजस और तामस होने के कारण 'ममता' भाव भी तीन ही प्रकार का होता है॥ २२-२५

व्यक्तं स्थूलं समस्तं तु प्रवृत्तौ तद्रुचिर्जनः।
स्थूलात्सूक्ष्मं यियासुश्चेत्कारणान्वेषणे रतः॥ २६
त्रैगुण्यविषयाँस्त्यक्त्वा निवृत्तौ मोक्षमाप्नुयात्।

अव्यक्त अवस्था सूक्ष्म है। उससे व्यक्त अवस्था को प्राप्त जितना संसार है, वह सारा स्थूल हैं। जिसकी रुचि स्थूल में होती है, वह 'प्रवृत्तिमार्गी' होता है। अगर कोई कारण की खोज में लगकर स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलना चाहता है, तो वह तीन गुणों के विषयों (सांसरिक पदार्थों) को छोड़ते-छोड़ते 'निवृत्तिमार्ग' पर चलकर जगद्बन्धन से मुक्ति पा सकता है॥ २६

(बन्धमोक्षयोः स्वरूपम्)

दुःखं लोके परो बन्धस्तन्मोक्षः सर्वगो वरः॥ २७
प्रवृत्तौ च वरः सोऽयं व्यक्तिभेदाद् बहुर्मतः।
वरान्त्सर्वान्ददात्येषा प्रवृत्तौ समुपाश्रिता॥ २८

संसार में दुःख ही सर्वव्यापी बन्धन होता है। उससे छुटकारा सबको अभीष्ट (प्रिय वर) है। प्रवृत्तिमार्ग में दुःखरूपी बन्धन भी कार्यजगत् की भिन्न-भिन्न स्थितियों के अनुसार (सात्त्विक, राजस और तामस की प्रधानता के कारण) तीन प्रकार का होता है। वह दुःखरूपी बन्धन से मोक्ष भी प्रवृत्तिमार्ग में कार्यजगत् के भेदों के कारण (व्यष्टियों से सम्बन्ध के कारण) नाना प्रकार का होता है। अर्थात् किसी को किसी बन्धन से मुक्ति अभीष्ट है, तो किसी को किसी अन्य से। प्रवृत्तिमार्ग में 'माँ' की शरण जिस भाव से ली जाती है, माँ उसके वे सब अभीष्ट वर प्रदान करती है॥ २७-२८

निवृत्तौ तु जगद्बन्धध्वंसस्य कारणं परम्।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥ २९

वरदा सर्वलोकस्य यथायोग्यं समाश्रिता।
अम्बेव कुरुते सौख्यं बालानां च यथावय:॥ ३०

इसके विपरीत निवृत्तिमार्ग में जगत् में पुनः पुनः आना-जाना, जन्म-मरणरूपी बन्धन ही सबसे बड़ा बन्धन होता है, और जगन्माता उस बन्धन के विनाश का सर्वोत्तम कारण बनती है। अर्थात जगत् के आवागमनचक्र से मुक्तिरूपी वर प्रदान करती है। इस प्रकार निवृत्तिमार्ग में वह जन्म-मरणरूप सबसे बड़े दु:ख से छुटकारे का सर्वोत्तम उपाय सर्वकालव्यापिनी विद्या (ज्ञान) है। यों सब लोग अपनी योग्यता के अनुसार उस भाव से अपना अभीष्ट फल उसी प्रकार प्राप्त करते हैं, जिस भाव से वे उस माँ का आश्रय लेते हैं। जिस प्रकार माँ अपने बच्चों की उम्र (उनके आश्रयभाव की मात्रा) के अनुसार उनके सुख का ख्याल रखती है, जगदम्बा भी उनकी भक्ति (आश्रितता) की मात्रा के अनुसार उनके छोटे-बड़े वर उन्हें प्रदान करती है॥ २९-३०

(कथाविश्लेषणम्)

अम्बायाश्चरितान्यत्र त्रीण्याख्यामि यथामति।
श्रोतव्यान्यवधानेन पवित्राणि पराऽऽश्रयात्॥ ३१

इस ग्रन्थ (श्रीदुर्गासप्तशती) में जगदम्बा के तीन चरित्रों का वर्णन किया गया है। मैं (शिवनारायण शास्त्री) शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय) और मनन से सम्पन्न अपनी समझ के अनुसार उनकी व्याख्या इस (श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श) ग्रन्थ में कर रहा हूँ। ये तीनों चरित्र जगदम्बा पर आश्रित होने के कारण बुद्धि को निर्मल करने वाले है। कल्याणकामी इन्हें ध्यान से सुनें॥ ३१

सुरथस्य समाधेश्च ऋषिवर्यस्य मेधसः।
प्रश्नोत्तरमिषेणेयं कथा लोके प्रवर्तिता॥ ३२
आद्याध्याये महाकाली, महालक्ष्मीस्ततस्त्रिषु।
पञ्चमाद् दशमं यावत्सरस्वत्यत्र रूपिता॥ ३३
एकादशे कृतज्ञाश्च पराम्बां तुष्टुवुः सुरा।
द्वादशेऽम्बामुखेनात्र दुर्गोपास्तिफलश्रुतिः॥ ३४
कथाया उपसंहारः कृतोऽध्याये त्रयोदशे।
ऋषिणा मेधसा देव्या यथेष्टवरदानतः॥ ३५

'श्रीदुर्गासप्तशती' की कथा 'सुरथ' राजा, 'समाधि' वैश्य के प्रश्न और 'मेधस्' ऋषि के उत्तर के रूप में प्रवर्तित हुई है। इस ग्रन्थ में (क) प्रथम अध्याय में 'महाकाली' का, (ख) उसके बाद तीन (२-४) अध्यायों में 'महालक्ष्मी' का

और (ग) पाँचवें से दसवें अध्याय तक (छह अध्यायों में) 'महासरस्वती' का रूपक बनाकर व्यक्तस्वरूपिणी जगदम्बा का वर्णन किया गया है। इसके बाद ग्यारहवें अध्याय में अपने शत्रुओं के विनाश के प्रति कृतज्ञ देवताओं ने जगदम्बा की स्तुति की है। बारहवें अध्याय में जगदम्बा के मुँह से दुर्गा की उपासना के लाभ बताए गए हैं। तेरहवें में ऋषि 'मेधस्' ने देवी द्वारा 'सुरथ' और 'समाधि' को अपना-अपना अभीष्ट वर देना बताकर कथा का उपसंहार किया है॥ ३२-३५

('ऐं' बीजमन्त्रस्य व्याख्या)

अकारो विष्णुरूपोऽयमिकारो ब्रह्मरूपकः।
उभयोरप्ययो बिन्दुर्, ऐंकारोयं तमोभवः॥ ३६
महाकालीं समाचष्ट आद्याध्यायकथाश्रयात्।
मार्कण्डेयपुराणेऽस्याः पराऽम्बाया निरूपणम्॥ ३७

उच्चारण स्थानों में प्रथम कण्ठ में व्यक्त, सब व्यञ्जनों के उच्चारण में आश्रित 'अ' वर्ण विष्णुरूप है। जगत् की गति को व्यक्त करने के कारण 'इ' स्वर ब्रह्मा है। शास्त्रों में प्रत्येक वर्ण का (क) कोई अर्थ होता है, (ख) नहीं होता है, ये दो मत रहे हैं। वैयाकरण वर्ण को अनर्थक, पर उनके संयोग से निष्पन्न शब्द को सार्थक मानते हैं। तन्त्रशास्त्र में वर्ण को सार्थक माना जाता है। 'अ' और 'इ' का सन्धान होने पर निष्पन्न 'ऐ' अक्षर पर आश्रित रञ्जक अनुस्वार (बिन्दु) इनकी एकाकारता को दृढ करता है। इस प्रकार सत्त्वगुणस्वरूप विष्णु को और रजोगुणरूप ब्रह्मा को अपने अधीन किये हुए यह तमःप्रधान संयुक्त स्वर महाकाली का अभिधायक बीजमन्त्र है। इसका वर्णन श्रीदुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय में किया गया है। इस जगदम्बा का वर्णन 'मार्कण्डेयपुराण' के अन्तर्गत 'देवीमाहात्म्य' अंश में किया गया है ॥३६-३७

(महाकाली निद्रारूपेण वर्णिता)

तमःप्रधानरूपेयं महाकाली पराऽम्बिका।
सत्त्वं चैव रजश्चैव गुणौ गौणावुभावपि॥ ३८
प्रवृत्तौ लयरूपेयं निद्रारूपेण वर्णिता।
निवृत्तौ परमा सेयं मोक्षरूपवरप्रदा॥ ३९

जगदम्बा के इस स्वरूप में तमोगुण प्रधान है, तथा सत्त्वगुण और रजोगुण दोनों सत्त्व से गौण तो हैं ही, परस्पर भी कभी कोई गौण होता है, कभी कोई। इसका स्वरूप (स्वभाव) लीन होना (वृत्तियों का अभाव) होता है। प्रवृत्तिमार्ग में इसे 'निद्रा' कहा गया है। क्योंकि निद्रावस्था में प्राणी की केवल अत्यावश्यक

श्वासोच्छवास आदि सामान्य वृत्तियाँ ही कार्यरत रहती हैं, अन्य विशेष वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं। निवृत्तिमार्ग में बाह्य वृत्तियों का उपराम होने पर नित्य समाधि के कारण यह 'मोक्ष' (जगद्बन्धन से मुक्ति) रूपी उत्तम वर देने वाली परमकल्याणकारी व शिवस्वरूपा है॥ ३८-३९

(कथापात्राणां विश्लेषणम्)

मेधा नाम मुनिस्तत्र शिष्यशङ्कानिवारकः।
वक्ताऽयमुत्तमस्तत्र प्रष्टारौ वैश्यपार्थिवौ॥ ४०
सन्त्रस्तौ लोकवृत्तेन भिन्नं फलं तु प्राप्नुताम्।
तौ मध्यमाधमौ, तत्र राजा मोहाधिको मतः॥ ४१

'श्रीदुर्गासप्तशती' ग्रन्थ में 'मेधस्' नामक मुनि ने दोनों शिष्यों की शंका का निवारण किय है, अतः ऋषि 'मेधस्' इस कथा में उत्तम वक्ता हैं। राजा 'सुरथ' और 'समाधि' वैश्य जिज्ञासु हैं। वे दोनों दुनियायाँदारी के व्यवहार से उद्विग्न हैं और अपने उद्वेग के स्वरूप की भिन्नता के कारण उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के फल प्राप्त किये हैं, अतः ये दोनों मध्यम व अधम कोटि के जिज्ञासु हैं। इनमें राजा अधिक मोहग्रस्त है॥ ४०-४१

(नृपस्य निकृष्टजिज्ञासुताया व्याख्या)

स्वारोचिषेऽन्तरे पूर्वं चैत्रवंशसमुद्भवः।
सुरथो नाम राजाऽऽसीच्छत्रुभिस्तु पराजितः॥ ४२
अमात्यैर्बलिभिर्दुष्टैर्दुर्बलस्य दुरात्मभिः।
कोशशेषे हृतेऽप्येष ममत्वाकृष्टचेतनः॥ ४३
दुर्गां वव्रे नृपो राज्यमविभ्रंश्यन्यजन्मनि।
मुक्तिं फलमपश्यन्त्स लोकेषु रागमावहन्॥ ४४
आदितश्चान्तपर्यन्तं मायया तु विमोहितः।
अधम इत्ययं भूपो, वैश्यो मध्यम एव तु॥ ४५

पूर्वकाल में 'स्वारोचिष' नामक मन्वन्तर के दौरान 'चैत्र' नामक वंश में 'सुरथ' नाम के एक राजा हुए। शत्रुओं ने उन्हें बलपूर्वक परास्त कर दिया था। इस प्रकार से कमजोर पड़े हुए राजा के दुष्ट मन्त्री उन पर हावी हो गए और उन्होंने राजा के बचे-खुचे खजाने को अपने अधीन कर लिया। दुःखी राजा अपनी राजधानी से निकलकर वन की ओर चल दिये। राज्य के प्रति ममता के कारण राजा की चेतना सदा उसी में रमी रहने लगी। वन में ऋषि के उपदेश पर राजा ने दुर्गा की उपासना करके प्रसन्न हुई जगदम्बा से इस शरीर के रहते और अगले

जन्म में भी निष्कण्टक राज्य की ही कामना की। राज्य के प्रति मोह के कारण राजा की प्रवृत्ति संसार के दुःखों से मुक्ति पाने की नहीं हुई। अपने सुखी जीवन से दुःखी जीवन तक और फिर भगवती के प्रसन्न होने तक राजा का लगाव सांसारिक पदार्थों, राज्यसुख में ही बना रहा, माया, मोह में ही पड़ा रहा। इस कारण राजा 'सुरथ' वर्ण से उत्तम होते हुए भी राग की प्रबलता के कारण निकृष्ट कोटि के जिज्ञासु हैं॥ ४२–४५

(वैश्यस्य मध्यमजिज्ञासुतायाः कारणम्)

पुत्रदारैर्निरस्तोऽसौ धनलोभादसाधुभिः।
ममत्वेऽपि च पुत्रेषु वैश्यो ज्ञानं तु वव्रिवान्॥ ४६
आदौ ममत्वसंयुक्तो राजेवाधम एव सः।
अन्ते ज्ञानं तु यद् वव्रे, मध्यमस्तेन मे मतः॥ ४७

इसके विपरीत, 'समाधि' वैश्य मध्यम श्रेणी का जिज्ञासु है। 'समाधि' वैश्य ने अपनी जवानी में बहुत धन कमाकर रखा (सम + आ + धा)। किन्तु जब उसके बेटे बड़े हुए और उसकी पत्नी भी बेटों के प्रति ममता के कारण उनसे मिल गई, तो सबने मिलकर उसकी उपेक्षा और फिर तिरस्कार करना शुरू कर दिया। धन पर कब्जा जमाकर बैठे पिता के धन के लोभ ने उन्हें सत्पुत्रों से असत्पुत्र और सत्पत्नी से असत्पत्नी बना दिया। उन्होंने उसका धन छीनकर उसे घर से निकलने को बाध्य कर दिया। वैश्य को पुत्रों के इस व्यवहार से बहुत कष्ट हुआ। पर उसे धन से इतनी ममता नहीं थी, जितनी उन लोगों के प्रति थी। उसने मुनि से जगदम्बा का माहात्म्य सुनकर जगदम्बा की उपासना की और माँ से संसार के वास्तविक स्वरूप की पहिचान माँगी। इसके फलस्वरूप संसार के मायामोहमय स्वरूप के सम्यग् ज्ञान के कारण समाधि वैश्य को उत्तम वर (जगद्बन्धन से मोक्ष) मिला। कथा के प्रारम्भ में 'समाधि' वैश्य भी राजा 'सुरथ' के समान लौकिक पदार्थों में ममता के कारण निकृष्ट कोटि का जिज्ञासु ही था, किन्तु अपनी साधना के अन्त में उसने उत्तम ज्ञान का वरण किया। इस प्रकार अधम और उत्तम मनःस्थितियों के मेल के कारण 'समाधि' वैश्य मध्यम कोटि का जिज्ञासु साधक है॥ ४६–४७

(मेधस्–सुरथ–समाधिनाम्नां व्याख्या)

मेधा नाम मुनिर्योऽसौ मेधयोत्तमया युतः।
सुरथोऽपि च राजाऽयं रथिनामुत्तमः पतिः॥ ४८
समाधिर्नाम वैश्योऽपि यथा नाम तथागुणः।

सम्यगाहितवान् वित्तमुत्पन्नो धनिनां कुले ॥ ४९
स्नेहानुविद्धचित्तोऽपि समाधिं त्वन्त आस्रवान्।
उभयथाऽप्ययं वैश्यः समाधिर्नाम सार्थकः ॥ ५०

मुनि का 'मेधस्' नाम उनकी उत्तम मेधा (ज्ञानवान् ऋषि होने) का सूचक है। राजा का 'सुरथ' नाम भी सार्थक है, क्योंकि वे रथी योद्धाओं के उत्तम स्वामी (सु+रथ, अत्यन्त उत्तम योद्धा) हैं। 'समाधि' नामक वैश्य भी जैसा उसका नाम है, वैसे गुण वाला है: (क) वह खानदानी धनी तो है ही, उसने अपने जीवनकाल में भी बहुत धन इकट्ठा किया — सम् + आ + धा = समाधि; (ख) पुत्र, पत्नी द्वारा दुर्व्यवहार किये जाने पर उनके प्रति प्रेम के बंधन में पड़ा होने पर भी अन्त में अपने चित्त को वश में करके, ज्ञानप्राप्ति के प्रति एकाग्र करके उसने 'सम् + आ + धा = समाधि' नाम को सार्थक किया ॥ ४८-५०

न जातिर्नाथवा लिङ्गं भवत्युत्तमताकरम्।
गुणस्वभावकर्माणि हेतुरुत्तमतादिके ॥ ५१

न कोई जातबिरादरी, न कोई स्त्रीपुरुष आदि का भेद और न कोई बाना अथवा अन्य चिह्न मनुष्य को औरों से श्रेष्ठ बनाता है। पदार्थ के गुण, स्वभाव और कर्म ही मनुष्य को उत्तम, अधम बनाते हैं ॥ ५१

(आद्याध्यायस्य जगदम्बायै समर्पणम्)

आद्याध्यायसुमेनेयमर्चिता जगदम्बिका।
कुर्याद् बन्धविमोक्षं मे, यद् भद्रं तन्म आदिशेत् ॥ ५२
दुर्गेयं धनसम्पत्त्या, सुगा च श्रद्धयाऽऽश्रिता।
अगा जगन्ति कुर्वाणा, मय्यम्बा स्नेहभाविनी ॥ ५३
आद्योऽध्यायोऽयमेतस्याः पादयोरर्प्यते मया।
एकषष्टितमे वर्षे वैक्रमे प्रथमे दिने ॥ ५४

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे प्रथमोऽध्यायः ॥

'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ का यह प्रथम अध्याय एक पुष्प के रूप में है। मैं इसके द्वारा जगदम्बा का अर्चन, पूजन कर रहा हूँ। यह मुझे छोटे-मोटे सब बन्धनों से मुक्त कराए। जो मेरे लिए कल्याणकारी हो, जिससे अभ्युदय और निश्श्रेयस सम्पन्न हों, ऐसा कुछ मेरा भला यह माता करें। धन, सम्पत्ति आदि लौकिक साधनों के बल पर इसे पाना कठिन है। इनके बल पर इसे पाना चाहने वालों के लिए यह 'दुर्गा' (दुर्गम) है। श्रद्धा से अगर इसकी शरण ली जाए, तो इसे

पाना सरल है। यह श्रद्धालु जनों के लिए 'सुगा' (सुगम) है। सर्वत्र व्याप्त होने के कारण 'अगा' (गतिरहित) यह सतत गतिशील संसार का निर्माण करती है। मेरे ऊपर यह अम्बा बहुत स्नेह रखती है। इस ग्रन्थ का यह प्रथम अध्याय मैं शिवनारायण शास्त्री इसके श्रीचरणों में आज २०६१ विक्रम वर्ष के प्रथम दिवस पर अर्पित कर रहा हूँ॥ ५२-५४

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में प्रथम अध्याय संपूर्ण हुआ॥

द्वितीयोऽध्यायः

(श्रीदुर्गासप्तशत्याः प्रथमाध्यायस्य कथा)

प्रेमप्रवणचित्तौ तौ विगुणेष्वपि बन्धुषु।
दृष्टदोषेऽपि विषये ममत्वाकृष्टमानसौ॥ १
ज्ञानिनोरपि यन्मोहो विवेकेऽपि च मूढता।
मुनिं मेधसमायातौ द्वावप्यत्यन्तदुःखितौ॥ २
तस्य हेतुं हि ज्ञातुं तौ विनयात् प्रश्रितौ मुनिम्।
मुनिरसौ च तौ व्याख्यल्लोकस्य हितकाम्यया॥ ३

अपने सगे-सम्बन्धियों और कभी हितू रहे लोगों द्वारा अपकार किया जाने पर भी वे दोनों (राजा सुरथ और समाधि वैश्य)उनके प्रति राग से आबद्ध चित्त वाले थे। लौकिक विषयों में दोष देखकर भी दोनों के मन में उन विषयों के प्रति ममता बनी हुई थी। वे दोनों यद्यपि सांसरिक विषयों की निस्सारता को जानते थे, कहने को समझदार थे, पर उनके प्रति मोह से ग्रस्त थे। अपनी-अपनी स्थिति और अनुभवों के कारण बहुत दुःखी वे दोनों शान्ति पाने की आशा में मेधस् मुनि के पास उनके आश्रम में पहुँच गए। अपने दुःख का कारण जानने के लिये वे विनयभाव से उन मुनि की शरण में पहुँचे। मुनि ने न केवल उनके, अपितु जगत् के हित की इच्छा से उनको इस प्रकार समझाया — ॥ १-३

(मुनेरुपदेशस्य व्याख्या)

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।
विषयांश्च महाभागौ, याति जन्तुः पृथक् पृथक्॥ ४
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिनरादयः।
लोभात् प्रत्युपकाराय ममत्वं मोहमागताः॥ ५
महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणा।

मायया जगदीशस्य सर्वं सम्मोहितं जगत्॥ ६
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्या मोहाय महामाया प्रयच्छति॥ ७

सभी प्राणियों को अपनी इन्द्रियों के विषयों, लौकिक पदार्थों, का ज्ञान है, किन्तु सभी प्राणियों की लौकिक विषयों के प्रति समझ अपने-अपने ढंग से अलग-अलग तरह की होती है। चाहे पशु हो, पक्षी हो, या फिर मनुष्य हो, सभी जगत् के स्वार्थमय स्वरूप को जानते, समझते हैं, तथापि अपने लोभ, स्वार्थ, के कारण अपने आश्रितों के प्रति किये उपकारों के बदले में उनसे कुछ सेवा पाने के लिये, तेर-मेर रूप मोह में पड़े रहते हैं। महामाया के प्रभाव से ऐसा होता है और यह जगत् जो चल रहा है, नष्ट नहीं होता। यह इसी के कारण है। जगत् के पालक की माया ने सारे जगत् को मोह में डाला हुआ है। समग्र ऐश्वर्य की स्वामिनी वह माया ज्ञानी लोगों के मन को भी बलात् खींचकर मोहाधीन कर देती है॥ ४-७

आराधिता परा भक्त्या वरदा सा नृणां भवेत्।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ॥ ८
संसारबन्धुहेतुश्च कामार्थासक्तचेतसाम्।
यो भावोऽस्ति जनस्यास्यां सैषा तत्फलदायिनी॥ ९
नित्या च सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
भक्तानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा पुनः॥ १०
सेयं भक्तजनाधीना चित्प्रकाशिगुणात्मिका।
त्रैगुण्यविषयो लोको परं ब्रह्म तु निर्गुणम्॥ ११
यद्गुणे फले काङ्क्षा तद्गुणं फलमाप्नुयात्।
निर्गुणं काङ्क्षते योऽसौ निर्गुणं मोक्षमाप्नुयात्॥ १२
एतद्व्याख्यानरूपेण कथां मेधाः स उक्तवान्।
तत्प्रतीकार्थमाख्यामि विविच्याहं यथामति॥ १३

किन्तु अगर कोई मनुष्य महामाया के प्रति समर्पित होकर उसकी आराधना करता है, जगद्व्यवहार करता है, तो वह मनुष्य को उसके समर्पण की मात्रा के अनुरूप वर देकर उसे कृतार्थ करती है। मनुष्यों को जगत् के छोटे-बड़े बन्धनों से मुक्ति दिलाने वाली विद्या भी वही है, तो राग-द्वेष, इच्छा और उनकी पूर्ति के साधनों के प्रति आसक्त चित वाले मनुष्य को संसार के बन्धन में डालने वाली अविद्या भी वही है। जगदम्बा के प्रति मनुष्य का जो-जो भाव होता है, वह उसे उसके अनुसार फल देती है। जगत्प्रवाह की प्रवृत्ति के पूर्व, जगत्प्रवाह के समय

और इसके पश्चाद् भी विद्यमान होने के कारण वह यद्यपि नित्य है, तथापि सारा जगत् उसकी ही व्यक्त अवस्था है और इस समस्त जगत्प्रपञ्च का विस्तार उसी के कारण हुआ है। अपनी शरण में आए लोगों के कार्य सिद्ध करने के लिये वह भक्तों की पुकार पर फिर-फिर प्रकट होती है। चैतन्य से प्रकाशित गुण ही भगवती का स्वरूप हैं और वह भक्तजनों (उसके प्रति समर्पित लोगों) के अधीन है। इन्द्रियों का विषय यह जितना संसार है, वह तीन गुणों का विषय है। किन्तु परब्रह्म तीनों गुणों से ऊपर है, सत्त्वादि गुणों का विषय नहीं है। मनुष्य की जिस गुण वाले फल की इच्छा होती है, वह उस गुण वाला फल प्राप्त कर सकता है। जो मनुष्य गुणातीत की कामना करता है, वह जगद्बन्धन (आवागमन) से पूर्ण मुक्ति पा सकता है। इस बात की व्याख्या के लिए मेधस् ऋषि ने जगदम्बा की लीलाओं का बखान सुरथ और समाधि को श्रीदुर्गासप्तशती में किया है। शास्त्राभ्यास और मनन से तराशी हुई अपनी बुद्धि से उनका विवेचन करके मैं शिवनारायण शास्त्री उस कथा के प्रतीकों का तात्पर्य इस ग्रन्थ (श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श) के माध्यम से बता रहा हूँ॥ ८-१३

(जगतः प्रवाहनित्यता)

प्रवाहनित्यो लोकोऽयं मध्ये-मध्ये लयं भजेत्।
गुणवैषम्यहेतुत्वाज्जगद् व्यक्तं तदा तु यत्॥ १४
पुनः प्रकृतिमापन्नं गुणसाम्ये लयं गतम्।
इयं स्थितिश्च निद्रेति विष्णोरुक्ता महात्मनः॥ १५
अन्तर्निहितसत्त्वा हि जगत्येकार्णवीकृता।
गुणतः परतः सोऽयं सच्चिदानन्दरूपकः॥ १६
परः पुरुष आख्यातो लोकाभ्यासेन भाषया।
अनन्तं सर्वमप्येतद् व्यक्तमव्यक्ततां गतम्॥ १७
शेष इत्युच्यते शास्त्रे नागो यत् सर्वतोगतिः।
अध्यास्ते तत्र तत् तत्त्वं यद्वेवेष्टि समं जगत्॥ १८

नदी के प्रवाह में जिस प्रकार प्रतिक्षण नया पानी आता रहता है, जो आ गया, वह आगे बढ़ता जाता है, पीछे से नया पानी आता रहता है, पर प्रवाह एक ही कहलाता है, नदी एक की कहलाती है, वैसे ही यह जगद् भी नित-नवीन रूप धारण करके चलता रहता है, बीच-बीच में लीन भी होता रहता है। इसकी यही नित्यता है। यह कालातीत रूप से नित्य नहीं है। सत्त्व, रजस् और तमस् गुण जब अपनी समावस्था को छोड़कर विषम हो जाते हैं, तब 'यह अमुक गुण है, यह नहीं

है' इस प्रकार जगत् प्रकट होता जाता है। जब यही तीनों गुण समावस्था में आ जाते हैं, तो गुणवैषम्य के कारण व्यक्त हुआ जगत् साम्यावस्था प्राप्त करने पर पुनः अव्यक्त हो जाता है, कार्यरूप भेद तिरोहित हो जाते हैं और निराकारता रूप अभेद, अर्थात् भेदों का लय, हो जाता है। जगत् की इसी साम्यावस्था को ऋषि ने महानात्मा विष्णु की निद्रा बताया है। यह विष्णु की निद्रा इसलिये है, क्योंकि व्यक्तावस्था में जो सत्त्व गुण प्रधान था, वह अब साम्यावस्था में लीन हो गया है, सत्त्व के रूप में उसकी उपलब्धि पृथक् से नहीं होती। समुद्र में जिस प्रकार सब पदार्थ छुपे पड़े रहते हैं, केवल एकावस्थापन्न जल ही जल दिखाई देता है, वैसे ही गुणों की साम्यावस्था में भी समस्त भेद तिरोहित हो जाते हैं। अतः ऋषि ने समस्त जगती (व्यक्त जगत्) को 'एकार्णवीकृत' (समुद्र के समान एकाकार) कहा है। तीनों गुणों से ऊपर सत्, चित् और आनन्दस्वरूप जो यह परात्पर पुरुष है, उसे लोकों में कहने का जो अभ्यास है, उसी भाषा में 'नारायण, विष्णु' कहा है। समस्त व्यक्त जगत् जो अव्यक्तावस्था में आ गया है, उसे ओर-छोर से रहित होने के कारण 'अनन्त' कहा है। इसे ही शास्त्र में 'शेष' (बचा हुआ) और सब तरफ व्याप्त होने से 'न + ग = अग, न + अग = नाग' कहा है। इस शेष नाग पर वह चेतन तत्त्व विराजमान है, जो समस्त जगत् को व्याप्त करके स्थित होता है॥ १४-१८

(विष्णोर्नाभिपद्मे ब्रह्मण उत्पत्तेरर्थः)

तन्नाभावथ तत्केन्द्रे सिसृक्षाकारणात्पुनः।
समं वैषम्यमाप्नोतुं कश्चित्क्षोभो यदाऽभवत्॥ १९
साङ्ख्ये स महदित्युक्तः निरुक्ते प्रतिभेति च।
रजसस्तत्र प्राधान्ये पद्मं सत्त्वं प्रकीर्तितम्॥ २०
आधारो रजसश्चैतत् सत्त्वं यद्विष्णुनाभिगम्।
तमसो ह्यधिकं सत्त्वं तस्माच्च तद्रजोऽधिकम्॥ २१
ब्रह्मा पुराण इत्युक्तं बर्हणादस्य सर्वतः।
प्रथमो ह्ययमहंकारो रजो यत्र प्रधानकम्॥ २२
सृष्टेः कारणमेषोऽस्ति रजसोऽत्र प्रधानता।
अप्रधाने तमःसत्त्वे व्यक्तस्य साऽऽदिमा स्थितिः॥ २३

शेषनागरूप उस प्रलीन अव्यक्त पर आसीन उस विष्णुरूप चेतन की नाभि, अर्थात् केन्द्र, में परम चेतन की पुनः आविर्भाव की इच्छा के कारण इस अवस्था में विद्यमान गुणों को विषम अवस्था को प्राप्त कराने के लिए कोई क्षोभ हुआ। सांख्य शास्त्र में इसे 'महत्' कहा गया है। क्षुब्धता की स्थिति में विद्यमान

सत्त्व को पुराण में 'पद्म' (कमल) कहा गया है और निरुक्त में इसे 'प्रतिभा' कहा गया है। क्षुब्ध अवस्था में विद्यमान तीनों गुणों में से सत्त्व गुण और तमोगुण दबी स्थिति में और रजोगुण प्रधानता की स्थिति में थे। दबा होने पर भी सत्त्व रजोगुण का आधार है और तमोगुण सत्त्व की अपेक्षा हीन स्थिति में है। सत्त्व गुण, चेतन रूप नारायण की नाभि में, उसके केन्द्र में, स्थित है। इस अवस्था में सत्त्व तमस् से प्रबल है और सत्त्व से रजस् प्रबल है। इसी रजोगुण को पुराण में 'ब्रह्मा' कहा गया है, क्योंकि इसी तत्त्व से जगत् का बर्हण (विस्तार) हुआ है। सांख्य में रजस् की प्रधानता वाले इस तत्त्व को ही 'प्रथम अहंकार' कहा गया है। सारी सृष्टि इसी से हुई है। इस में रजोगुण की प्रधानता है तथा तमस् और सत्त्व गौण हैं। रजःप्रधान यह बह्मा अव्यक्त से व्यक्त होने की सब से पहली स्थिति है। इसलिये पुराण में इसे 'प्रजापति' और 'पितामह' कहा गया है॥ १९-२३

(ब्रह्मविष्णवोः स्वरूपम्)

यां कामपि जनः सृष्टिं चिकीर्षति यदा पुनः।
रजःस्वभामापन्नस्तदा ब्रह्मा भवेज्जनः॥ २४
अन्तर्यन्निहितं सत्त्वं विष्णुरेष जने भवेत्।
प्रकाशरूपं सृष्टस्य तत् सत्त्वं सर्वसंस्थितम्॥ २५

जब कोई मनुष्य कोई रचना करना चाहता है, तब उसमें रजोगुण की प्रधानता होती है और वह मनुष्य अपनी सृष्टि का 'ब्रह्मा' होता है। उस समय उस मनुष्य में जो सत्त्व गुण अन्तर्निहित होता है, वह उस मनुष्य में 'विष्णु' होता है। रचना की हुई वस्तु को प्रकाशित रखना रूपी प्रकाश के रूप में वह सत्त्व गुण सब पदार्थों में स्थित होता है॥ २४-२५

(मधुकैटभयोः स्वरूपम्)

किंचिल्लौकिकमाख्यातुं मेधसा कल्पना कृता।
मधुकैटभयोरत्र, तां व्याख्यामि यथामति॥ २६

कुछ लौकिक बातें बताने के लिये मेधस् ऋषि ने यहाँ 'मधु' और 'कैटभ' नामक दो असुर पात्रों की कल्पना की है। मैं शिवनारायण शास्त्री उस कल्पना की व्याख्या यथामति कर रहा हूँ॥ २६

निन्दा चैव प्रशंसा च कर्णावागत्य दूषितौ।
कुरुतो यत्तु तेनास्य रागो द्वेषोऽथवा भवेत्॥ २७
प्रशंसां मधुरां सर्वो मनुते मायया युतः।
असुषु प्राणयुक्तेऽस्मिन् देहादौ रमते तु यः॥ २८

असुरोऽयं मधुर्नाम निर्माणे विघ्नकृद् भवेत्।
निन्दायास्तु यदा लोक उद्विजेत विषादिव॥ २९
सृष्टौ सामर्थ्यमस्याथ क्षीयते निन्दकं प्रति।
जायतेऽथ च द्वेषः कैटभोऽयं प्रकीर्तितः॥ ३०

रचना या रचियता की निन्दा और प्रशंसा ये दो बातें रचना का प्रकाश करने वालों के कानों में आकर कानों को दूषित करती हैं। निन्दा सुनकर मनुष्य दुःखी और प्रशंसा करके अथवा सुनकर प्रसन्न होता है। इनसे मनुष्य में राग और द्वेष, दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं। माया (आत्ममोह) के कारण सभी मनुष्य माया को मधुर मानते हैं। इसलिये प्रशंसा या प्रशंसा से प्रसन्न होने का भाव 'मधु' होता है। असुओं अर्थात् प्राणयुक्त देह आदि में जिसका मन रमता है, वह 'असुर' होता है। प्रशंसा का भाव या प्रशंसा को मधुर मानने वाला मनुष्य भी देह-गेह (अपने और अपनी रचना) में रमने के कारण 'असुर' होता है। प्रशंसा का यह भाव निर्माण में बाधक होता है। अतः मधुर होते हुए भी असुर है। निन्दा किसी कमी को दिखाने के लिये की जाती है। जब मनुष्य अपनी कृति में कमी दिखाने से वैसे ही उद्विग्न होने लगता है, जैसे मनुष्य विष से उद्विग्न होता है, तब यह निन्दा भाव मनुष्य की रचने की क्षमता को क्षीण करने लगता है और उस मनुष्य को उसकी कृति में दोष दिखाने वाले के प्रति द्वेष होने लगता है। इस स्थिति को ही इस कथा में 'कैटभ' कहा गया है॥ २७-३०

प्रशंसा च यदा कर्णौ प्रविशेदथ सा मधुः।
निन्दा कीट इवाभाति देहे रतिमतोऽथ वै॥ ३१

शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों के प्रति रागवान् मनुष्य को प्रशंसा के मीठे शब्द मुँह में मधु (शहद) की बूँद की तरह मधुर लगते हैं। यही भाव 'मधु' असुर है। अपनी कृति की निन्दा उसे देह पर रेंगते कीड़े के समान अप्रिय (कीट + भा = कीटभ = कैटभ) प्रतीत होती है। अतः निन्दा 'कैटभ' असुर है॥ ३१

(मधुकैटभत्रस्तो ब्रह्मा योगनिद्रां तुष्टाव)

सत्त्वरूपो यदा विष्णुर्न जागर्ति लयाच्च तौ।
हन्तुं सृष्टेश्च कर्तारं ब्रह्माणं हि तदोद्यतौ॥ ३२
सेयं नेत्रगता विष्णोराहन्ति जगतः स्थितिम्।
यदा मुञ्चति नेत्रे च जायते स्थितिकारिणी॥ ३३

सत्त्व गुण की प्रधानता वाले विष्णु जब जागरित नहीं होते, तब वे दोनों निन्दारूप 'कैटभ' और प्रशंसारूप 'मधु' असुर सृष्टि के कर्ता ब्रह्मा को मारने को

उद्यत हो जाते हैं। सत्त्वगुणरूप प्रकाश (विवेक) वाले विष्णु के नेत्रों में स्थित उसकी इन्द्रियसामर्थ्य को संकुचित करने वाली यह निद्रा जगत् की स्थिति में रुकावट डालती है, उसके विकास में बाधक बनती है। किन्तु जब यह उसे छोड़ देती है, तब वह जागरण की स्थिति जगत् के पालन और विकास की कारक बन जाती है॥ ३२-३३

विवेकधर्मं तत्सत्त्वं ब्रह्मा बोधयितुं तदा।
मोहरूपां च तद्योगनिद्रां तुष्टाव सृष्टिकृत्॥ ३४

प्रधानभूत रजस् तत्त्व में स्थित चेतन तत्त्व ने सत् और असत् के विवेचन रूप सत्त्व गुण की प्रधानता वाले सुषुप्त विष्णु को जगाने के लिये मोहरूपा योगनिद्रा की स्तुति प्रारम्भ की ॥ ३४

(योगनिद्रायाः स्तुतेर्व्याख्या)

योगनिद्रा च मायेयं माति निर्माति वै जगत्।
स्वाहास्वधावषट्काराः सर्वं कर्म तदाश्रयम्॥ ३५
सर्वं स्वरादिधर्मिण्या वाचा यच्च प्रकीर्त्यते।
मायारूपं च तत्सर्वं प्रमाता येन बुध्यति॥ ३६
अनन्तरूपवेदस्य सारं या सवितुर्ऋचा।
सोङ्कारव्याहृतिः सैषा महामायाप्रवर्तिता॥ ३७

भगवान् विष्णु की यह निद्रा (वृत्तियों की उपरामता की स्थिति) 'योगनिद्रा' (क) पाँच भूतों के द्वारा जगत् का निर्माण, (ख) पाँच भूतों के सार (सूक्ष्म) रूप चक्षु आदि प्रमाणों से इसके विषयात्मक स्वरूप का मान करने के कारण 'माया' है। शास्त्रों में विहित देवनिमित्तक 'स्वाहा', 'वषट्' और पितृनिमित्तक 'स्वधा' शब्द से सूचित और समस्त लौकिक कर्मों का आश्रय यही भगवती माया है। इसके अतिरिक्त स्वरों, व्यञ्जनों और अयोगवाहों के रूप में विद्यमान वर्णरूपी समस्त वाङ्मय के द्वारा जो व्यवहारनिष्पादन किया जाता है, वह सब भी जगत् की और उसके परम कारण प्रकृति, पुरुष की प्रतीति कराने वाले शब्द प्रमाण के रूप में माया ही है, क्योंकि उस शब्द प्रमाण से प्रमाता को इन सब का भान और मान होता है। वेद, अर्थाद् ज्ञान, देशकाल और पात्र की दृष्टि से ओर-छोर से रहित है। उसी वेद की सारभूत वह ऋचा है, जिसमें विश्वामित्र ने सृष्टि की रचना और उसका पालन करने वाले परम तत्त्व (सवितृ) का ध्यान किया है और जो जगत् के आदि चेतन तत्त्व के वाचक ॐ और प्राकृतिक विस्तार की वाचक तीन व्याहृतियों (भूर्, भुवर् और स्वर्) के साथ बोली जाती है। वह वेदमाता गायत्री

ऋचा भी इसी महामाया के द्वारा प्रवर्तित है॥ ३५-३७

सृष्टिस्थित्यप्ययानां च कर्त्र्येषा जगतः सदा।
महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः॥ ३८

यह महामाया जगत् की रचना, पालन और संहार सदा करती रहती है। कभी कहीं रचना होती है, कभी कहीं पूर्वरचित का विकास होता है, तो कभी कहीं उसका प्रलय होता रहता है। इस प्रकार यह संसार सदा चलता (बनता, बिगड़ता) रहता है। इस प्रकार यह महामाया व्यष्टि और समष्टि जगत् की प्रकाशक विद्या, समष्टि का निर्माण और मान कराने वाली माया, समष्टि की मन से कल्पना करके उसे बुद्धि के रूप में विवेकपूर्वक धारण करने वाली है (मतौ -धीयते = मति धा = मइधा = मेधा—निरुक्त)। समष्टि के अतीत की स्मृति के रूप में एवं समष्टिगत मोह (भ्रान्ति) के रूप में भी यही महामाया है। इस प्रकार यह महामाया समस्त जगत्प्रपञ्च का प्रकाशन करने वाली, उस पर शासन करने वाली और उसका नाश करने वाली है॥ ३८

महामोहा च भवति महादेवी महेश्वरी।
श्रीह्रीबुद्ध्यादयो ये वै लज्जापुष्ट्यादयो गुणाः॥ ३९
तुष्टिः शान्तिस्तथा क्षान्तिर्जगतः स्थितिकारणम्।
महामायैव सा विष्णोः, सिसृक्षुस्तान् समाश्रयेत्॥ ४०

श्री (शोभा, सम्पन्नता, जिसका लोग आश्रय लें), ह्री (मनुष्य की शुभ कर्म में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति करने वाला लोकलाज का विचार), बुद्धि (शास्त्राभ्यास, लौकिक अनुभव और मनन से ऊहापोहपूर्वक सम्पन्न समझ), लज्जा और पुष्टि तथा इस जैसे अन्य गुण, जो उपलब्ध है, उससे सन्तोष, उससे प्राप्त शान्ति और जगत् के विपरीत भावों के प्रति सहनशीलता जैसे गुणों से जगत् का विकास और रक्षण होता है। रचना और लोकरूपी पुष्प का विकास करने वाली यह महामाया मनुष्यों में उपर्युक्त गुणों के रूप में विद्यमान है और रचना एवं विकास करने के इच्छुक मनुष्यों को चाहिये कि वे इन गुणों का आश्रय लें॥ ३९-४०

(महाकाल्या ध्यानम्)

खड्गं चक्रगदेषुचापपरिघाञ्छूलं भुशुण्डीं शिरः,
शंखं संदधतीं करैस्त्रिनयनां सर्वाङ्गभूषावृताम्।
नीलाश्मद्युतिमास्यपाददशकां सेवे महाकालिकां,
यामस्तौत्स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम्॥ ४१

अगस्त मास दूजा दिवस, सन् दो ऊपर दो हज़ार।

शुक्रवार शुभ प्रात काल, समय सैंतिस ऊपर पाँच ॥
दुर्गातत्त्वविमर्श में, सम्यक् करूँ बखान।
शुद्ध हृदय में धारकर, जगदम्बा का शुभ ध्यान॥

अपने दस हाथों में (१) तलवार, (२) चक्र, (३) गदा, (४) बाण, (५) धनुष्, (६) परिघ, (७) शूल, (८) भुशुण्डी, (९) सिर (कपाल) और (१०) शंख धारण करने वाली, तीन नयनों से युक्त, सब अंगों में अलंकारों से सुशोभित, काले पत्थर के समान रंग वाली, दस हाथ और दस पाँवों से युक्त महाकाली की शरण ग्रहण करता हूँ। भगवान विष्णु जब निद्रालीन थे, उस समय ब्रह्मा जी ने मधु और कैटभ का विनाश करने के लिये इनकी स्तुति की थी ॥४१

(महाकालीध्यानस्य व्याख्या)

दशेन्द्रियाणि देहेऽस्मिन्नायोधयन्ति मानुषम्।
धर्म्याणि चेदघोराणि घोराणि धर्मलोपतः॥ ४२
यच्च किंचित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मके।
जगत्यत्र तु सर्वस्य शक्तिः सा परमाऽम्बिका॥ ४३

प्राणी के शरीर में पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, इस प्रकार दस इन्द्रियाँ होती हैं। ये देवी की दस भुजाएँ हैं। दस इन्द्रियाँ अपने दस विषयों के प्रति आकर्षण, विकर्षण के द्वारा मनुष्य को जीवनसंग्राम में लड़वाती हैं। अतः दस विषय दस आयुध हैं। ये आयुध घोर और अघोर दो प्रकार के होते हैं। अगर धर्म (धृति, क्षमा आदि द्वादश गुणों) के अधीन रहते हैं, तो अघोर (सौम्य) होते हैं और अगर धर्म के उलट अधर्म के अधीन रहते हैं, तो मनुष्य को नीचे की ओर धकेलने के कारण घोर होते हैं। इस समस्त जगत्प्रपञ्च में कहीं भी, कभी भी जो कोई सत् (अघोर) या असत् (घोर) वस्तु होती है, उसकी शक्ति वह पराशक्ति ही है॥ ४२-४३

(चिदात्मकं ब्रह्म गुणेषु व्यज्यते)

चिदात्मकं च यद् ब्रह्म सत्त्वादिगुणसंस्थितम्।
ब्रह्मविष्णुशिवाख्यैस्तत्स्वरूपैर्व्यज्यते त्विह॥ ४४

रजस्, सत्त्व तमस् में स्थित चैतन्य स्वरूप हो कर ब्रह्म जगत्प्रपञ्च में ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामक तीन स्वरूपों में व्यक्त होता है॥ ४४

(जगदम्बाऽऽश्रये मोहनाशः)

इत्थम्प्रभावां तां शक्तिं समाश्रयति चेज्जनः।
मोह्येते तौ दुराधर्षावसुरौ मधुकैटभौ॥ ४५

सम्यगात्मगतां शक्तिं नो चेज्जानाति सृष्टिकृत्।
बोधोऽस्य जायते नोऽथ प्रबलौ च महासुरौ॥ ४६

अगर कोई मनुष्य इस प्रकार से प्रभावशाली उस शक्ति का आश्रय लेता है, तो उसके मार्ग में बाधक, अत्यन्त दुर्दम ये दो मधु और कैटभ नामक असुर स्वयं मोहग्रस्त हो जाते हैं और महाशक्ति के आश्रित ऐसे मनुष्य को मोहग्रस्त नहीं कर पाते। अगर किसी भी प्रकार की नई रचना करने वाला कोई मनुष्य अपने अन्दर विद्यमान इस शक्ति को जानता, पहचानता नहीं है, तो उसे ज्ञान नहीं होता और उसके ये दोनों असुर प्रबल हो जाते हैं॥ ४५-४६

अथाश्रयति तामेव शक्तिं सत्त्वात्मनि स्थिताम्।
नेत्रास्यनासिकाबाहुहृदयेभ्यस् तथोरसः॥ ४७
निर्गम्य दर्शने तिष्ठेद्विधातुर्ब्रह्मरूपिणः।
अज्ञानान्मुच्यते सोऽथ विष्णुरेनं च रक्षति॥ ४८

इसके विपरीत अगर कोई अपने अन्दर विद्यमान इस शक्ति का आश्रय लेता है, तब विष्णुरूप उस जन के इन्द्रियों, मुख, नाक, भुजाओं, हृदय और शब्द के प्रथम आश्रय उरस्थल से निकलकर वह शक्ति सृष्टि के कर्ता उस ब्रह्मा के सम्मुख खड़ी हो जाती है। तब वह सृष्टिकर्ता अज्ञान से मुक्त हो जाता है और यों विष्णु, अपने अन्दर विद्यमान सत्त्वगुणाश्रय चैतन्य, उसकी रक्षा करता है॥ ४७-४८

अत्रैव च संघर्षो स्त्रष्टुर्यज्जायते तु सः।
ताभ्यां च युयुधे विष्णुरिति तद्रूपकं खलु॥ ४९
अज्ञानावृतचेता यो रमते देहधातुषु।
अहंकारेण नश्येत वरयन् मृत्युमात्मनः॥ ५०

इस स्थिति में स्त्रष्टा के मन में जो संघर्ष होता है, उसे ही 'विष्णु मधु- कैटभ नामक असुरों से युद्ध करते हैं', इस प्रकार रूपक बनाकर कहा गया है। अपने स्वरूप की पहचान न होने के कारण उत्पन्न मोह से जब मनुष्य का मन ढँक जाता है, तो उसका मन शरीर के और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं के प्रति रमने लगता है। इस प्रकार वह 'मैं' और 'मेरा' भाव के कारण स्वयं ही अपने विनाश का वरण करता है और नष्ट हो जाता है। यही मधु कैटभ द्वारा विष्णु से अपनी मौत माँगने का रहस्य है॥ ४९-५०

(अध्यायोपसंहारः)

जगदम्बाप्रसादेन, गुरूणां कृपया तथा ।
प्रतीकार्थमिति व्याख्यद् दुर्गासप्तशतीगतम् ॥ ५१

शिवनारायणः शास्त्री सीतायां श्रीनिवासतः ।
जातोऽयं शिक्षितस्तेन प्रीयतां तेन चण्डिका ॥५२

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे द्वितीयोऽध्यायः ॥

दुर्गासप्तशती के प्रथमाध्याय के प्रतीकार्थ की व्याख्या सीतामाता और श्रीनिवास शास्त्री के पुत्र शिवनारायण शास्त्री ने जगदम्बा के प्रसाद से और गुरुजनों की कृपा से इस प्रकार सम्पन्न की। जन्म देने के अतिरिक्त पिताश्री ने ही मुझे शास्त्रों की शिक्षा दी है। मेरे इस कार्य से जगद्बन्धनों के प्रति प्रचण्ड (उनका विनाश करने वाली) भगवती महामाया प्रसन्न होवें ॥ ५१-५२

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में द्वितीय अध्याय संपूर्ण हुआ॥

तृतीयोऽध्यायः

(महालक्ष्म्या ध्यानम्)

अक्षस्त्रक्परशुं गदेषुकुलिशं पद्मं धनुष्कुण्डिकां,
दण्डं शक्तिमसिं च चर्म जलजं घण्टां सुराभाजनम्।
शूलं पाशसुदर्शने च दधतीं हस्तैः प्रसन्नाननां,
सेवे सैरिभमर्दिनीमिह महालक्ष्मीं सरोजस्थिताम्॥ १

(१) रुद्राक्षमाला, (२) फरसा, (३) गदा, (४) बाण, (५) अंकुश (वज्र), (६) लाल कमल, (७) धनुष, (८) कुण्डी, (९) डंडा, (१०) शक्ति, (११) तलवार, (१२) ढाल, (१३) कमल, (१४) घण्टा, (१५) मद्यपात्र, (१६) भाला, (१७) फन्दा (रस्सा), (१८) चक्र आयुधों को हाथों में धारण करने वाली, प्रसन्नवदना, महिष जैसे स्वभाव वाले आसुरी वृत्ति के दुष्ट जन को नष्ट करने वाली, कमल पर स्थित, अठारह भुजा वाली महालक्ष्मीस्वरूपा जगदम्बा की शरण ग्रहण करता हूँ॥ १

(महालक्ष्म्याः स्वरूपम्)

सत्त्वमस्तित्वमाख्यातं, तद्यथा वर्ततामिह।
इति सत्त्वस्थचैतन्यं विष्णुरित्युच्यते बुधैः॥ २
वेवेष्टि विष्णुर्यत्सत्त्वं गौणमन्यद्गुणद्वयम्।
मायाया मुख्यतादृष्ट्या महालक्ष्मीर्बुधैः स्मृता॥ ३

सत्त्व का अर्थ अस्तित्व कहा गया है। संसार का अस्तित्व बना रहे, इस निमित्त से सत्त्व गुण में स्थित चैतन्य को समझदार लोग 'विष्णु' कहते हैं।

चैतन्याश्रय जो सत्त्व गुण समस्त जगत् को विष् (व्याप्त) करके स्थित होता है, वह जब मुख्य होता है और दूसरे दो गुण रजस् एवं तमस् उसकी अपेक्षा गौण होते हैं, इस स्थिति में माया को मुख्यता देने की दृष्टि से बुद्धिमानों ने चैतन्य के आश्रय इस सत्त्व गुण को 'महालक्ष्मी' कहा है॥ २-३

(अष्टादशभुजव्याख्यानम्)

अष्टादशभुजा सेयं सांख्योक्तानि च षोडश।
तत्त्वानि तत्परा बुद्धिः पुरुषोऽष्टादशस्तथा॥ ४

साङ्ख्यदर्शन में बताए सोलह तत्त्व (पञ्चभूततन्मात्र, पाँच स्थूल त्रिवृत्कृत या पञ्चीकृत भूत और पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन), इनका अधिष्ठाता बुद्धि तत्त्व और अठारहवाँ चेतन तत्त्व पुरुष, ये अठारह इस महालक्ष्मी की भुजाएँ हैं॥ ४

(आयुधानां तात्पर्यम्)

माला भक्तिश्च वैराग्यं पद्मं ज्ञानं च शङ्खकम्।
कुण्डिकेति च होत्राद्यमिन्द्रियं पानपात्रकम्॥ ५
घण्टा वेदस्य घोषोऽयं विवेकः परशुर्मतः।
दमो गदा तथा बाणो विषयान्प्रति या गतिः॥ ६
वज्रं मत्तमनोहस्तिसंयन्ता संयमो मतः।
धनुर्देहोऽयमस्त्यत्र दण्डो धर्मस्य शासनम्॥ ७
शक्तिरात्मनि विश्वासस्तथाऽसिर्धर्मपालनम्।
चर्माधर्माच्च दूरत्वं शूलं सत्त्वस्य धारणम्॥ ८
पाशो वारुणमाख्यातमृतं कालः सुदर्शनम्।
द्वादशायुधजातेन लक्ष्मीरेषा च रक्षति॥ ९

इन अठारह भुजाओं में अठारह आयुध इस प्रकार हैं — (१) माला भक्ति का प्रतीक है, (२) पद्म (जल में रहकर भी निर्लेप रहने वाला कमल) वैराग्य का, (३) शुभ्र शंख ज्ञान का, (४) कुण्डी अग्निहोत्रादि कर्म का, (५) पानपात्र विषयोपभोग के साधन इन्द्रियों का, (६) घण्टा वाङ्निबद्ध ज्ञान का प्रतीक है। (७) परशु से अज्ञान को खण्ड-खण्ड करने वाला विवेक अभीष्ट है। (८) शत्रुओं को चूर्ण-चूर्ण करने वाली गदा दम का, (९) बाण विषयों के प्रति गति का प्रतीक है। (१०) वज्र अथवा अङ्कुश से विषयों को देखकर पगलाए मनरूपी हाथी को नियंत्रित करने वाला संयम अभीष्ट है। (११) धनुष् यह शरीर है और (१२) दण्ड से मनुष्य पर धर्म (मर्यादाओं) का शासन इष्ट है। (१३) अपने स्वरूप पर विश्वास शक्ति है और। (१४) कर्त्तव्यपालन खड्ग है। (१५)

अधर्म से दूर रहना ढाल है। (१६) अपने अन्दर सत्त्व गुण को धारण करना शूल है। (१७) पाश से जगद्व्यवस्था के नियामक वरुण का ऋत कहा गया है। (१८) चक्र से काल अभिप्रेत है। इनमें से (१) माला आदि साधनों से महालक्ष्मी जगत् का विकास करती है और (७) परशु आदि 12 आयुधों से जगत् की रक्षा करती है॥ ५-९

(महालक्ष्मीमहिषयोस्तात्पर्यम्)

सत्त्वं प्रकाशस्वाभाव्यात्प्रसन्नमाननं परम्।
महिषोऽस्ति महामोहः सर्वाधिकारभावनः॥ १०
सरोजं निर्विकारत्वं विषयादिग्रहेऽपि यत्।
सत्त्वमुख्या महालक्ष्मीर्महामोहविनाशिनी ॥ ११

महालक्ष्मी को प्रसन्नवदन इसलिये बताया है, क्योंकि सत्त्व गुण का स्वभाव प्रकाश (Transparency) है। 'महिष' से सब पर अपना अधिकार रखने की भावना का कारक महामोह अभिप्रेत है। महालक्ष्मी (सत्त्वगुण) जिस पर विराजमान है, उस कमल से रूपादि जागतिक विषयों द्वारा गृहीत होने पर भी निर्विकार रहना इष्ट है। सरस् (तालाब) से विविध विषयों की हिलोर लेने वाला यह संसार इष्ट है। सत्त्वगुणी मनुष्य इसमें रहकर भी निर्विकार रहता है। महालक्ष्मी का मुख्य स्वभाव इसमें सत्त्वगुण की मुख्यता है, जिसके कारण यह बड़े से बड़े मोह को भी नष्ट कर देती है॥ १०-११

ध्यात्वाऽहं तादृशीं देवीमात्मप्रकाशरूपिणीम्।
व्याख्याम्यस्याश्चरित्रं यन्मध्यमं लोक उच्यते॥ १२

चैतन्य तो प्रकाशरूप है ही, प्रकाशधर्मा (Transparent) सत्त्व में चैतन्य के प्रकाशित होने से माया महालक्ष्मी बन गई है। अतः महालक्ष्मी पूर्णतया प्रकाशस्वरूपा है। मैं दिव्य महालक्ष्मी का ध्यान करके इसके दुर्गासप्तशतीगत उस चरित्र की व्याख्या कर रहा हूँ, जिसे लोक में 'मध्यमचरित्र' कहा जाता है॥ १२

('ह्रीं' बीजमन्त्रस्य व्याख्या)

हकारो लयमाख्याति रेफो रतिं गतिं तथा ।
ईकारो महतीं शक्तिं बिन्दुरेषां च धारणम्॥ १३
'ह्रीं' बीजमिदमेतस्मान्महालक्ष्मीनिरूपकम्।
रहस्यमस्य वेत्तव्यं धारणीयं च यत्नतः॥ १४
रजोवृत्तस्य लोकस्य गत्यै च रतये तथा।
हननं तु तमोवृत्तेः कुर्यात् सत्त्वं प्रकाशकम्॥ १५

संवृत स्वरनालिका से वेग से ईषद् विवृत कण्ठ में आगत वायु से

निष्पन्न 'ह' ध्वनि महाप्राण है। नागरी वर्णमाला का यह अन्तिम वर्ण है और यह बलवत्ता को प्रकट करता है। संवृत स्वरनालिका से अल्प वेग से मुख में प्रवेश के बाद करण जब मूर्धा स्थान को किचित् स्पर्श करता है, तब अल्पप्राण 'र' ध्वनि उत्पन्न होती है। यह रति और गति को प्रकट करती है। उदात्त ईकार ध्वनि तालु और करण के मध्य विवरण होने से व्यक्त होती है। अधिककालव्यापी होने से यह दीर्घ है। इस प्रकार निष्पन्न इन तीन वर्णों के संयोग से निष्पन्न अक्षर बल को और दीर्घकालव्यापी रति (रुचिरता) एवं गति को प्रकट करता है। इस संयुक्ताक्षर के पश्चाद् उच्चरित अनुस्वार रञ्जक है और इन सब के धारण को प्रकट करता है। इस प्रकार 'ह्रीं' अक्षर प्रबल रुचिरता और गति तथा विकास की धारिका शक्ति को प्रकट करने वाला अक्षरात्मक बीजमन्त्र है। इसका अर्थ महालक्ष्मी नामक महाशक्ति है। 'ह्रीं' बीजाक्षर का यह रहस्य इस प्रकार समझें और प्रयत्नपूर्वक इसे बुद्धि में स्थापित करें। सत्त्वगुण का धर्म प्रकाश करना है। यह महालक्ष्मी रजोगुणी स्वभाव वाले लोगों की गति और रति (विकास) के लिए तमस् स्वभाव का विनाश करती है॥ १३-१५

(देवासुरपुरन्दरतत्त्वव्याख्या)

देवाः प्रकाशधर्माणो दयादानादिलक्षणाः।
असुषु चैव देहादौ रमन्ते येऽसुरास्तु ते॥ १६
देवानामधिपश्चेन्द्र इन्ध इन्दति चेतनाम्।
पुरं शरीरमित्युक्तं तज्ज्ञानेन स दारयेत्॥ १७
यदा ज्ञानाग्निना दग्धं कर्म जन्तोस्तदा नहि।
कच्चिद् देहान्तरप्राप्तिस्तस्माज्ज्ञानी पुरन्दरः॥ १८

देवों का स्वभाव प्रकाश करना होता है। दया, दान आदि गुणों से इनकी पहचान होती है। इसके विपरीत, जो सिर्फ अपने और अपनों के लिए कुछ करने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं, वे असुर होते हैं। देवताओं में सर्वोत्तम इन्द्र है। यह चेतना को इद्ध, दीप्त करता है और अपने को अनुशासन में रखता है। इन्द्र 'पुरन्दर' भी कहलाता है। प्राणों और इन्द्रियों के द्वारा पूरणीय होने से शरीर को 'पुर' कहते हैं। ज्ञान के द्वारा इन्द्र उस शरीर को — पुनः शरीर धारण करने, अर्थात् जन्मान्तर भाव को — विदीर्ण करता है, अतः पुरम् + दृ = पुरन्दर है। जब जन्तु का कर्म ज्ञानरूप अग्नि से जल जाता है, तब उसे पुनः देह धारण नहीं करना पड़ता। अतः चेतना को उद्दीप्त करके अपने को अनुशासन में रखने वाले ज्ञानी को 'पुरन्दर' कहा गया है॥ १६-१८

(महिषासुरस्य व्याख्या)

महिषोऽसुरराजो यो महत्त्वं पूजनीयताम्।
इच्छेदिष्णाति लोकेषु सर्वाधिकारगामिताम्॥ १९
इन्द्रत्वमात्मनो नूनं मन्येतैवेदृशः पुमान्।
सर्वाधिकारभोगी स नूनमस्ति तमोमयः॥ २०
लोकानुद्वेजयेतासौ देवांस्तत्र विशेषतः।
ईदृशो यो जनः शास्त्रे स महिषासुर इष्यते॥ २१

'महिष' असुरों का स्वामी है। 'महिष' वह होता है, जो अपने को महान्, पूजनीय बनाना चाहता है और इस के निमित्त अपनी गतिविधियाँ करता है — मह् + इष (इच्छा, गति) = महिष। यह सब पर अपना अधिकार जमाना चाहता है और अपनी सारी गतिविधियाँ इसी निमित्त करता है। ऐसा महत्त्वकांक्षी जन स्वयं को चेतनासम्पन्न इन्द्र (अच्छा आदमी) समझता है। इस प्रकार का तानाशाह निश्चय से तमोगुणी होता है। ऐसा मनुष्य सर्वसाधारण को और विशेषकर देवतासदृश लोगों को दुःखी करता है। लोक में ऐसा जो मनुष्य होता है, उसे ही शास्त्र में, परोक्षभाषा, में, प्रतीक के रूप में 'महिषासुर' कहा गया है।॥ १९-२१

(महिषासुरनाशितत्त्वस्य व्याख्या)

तस्य नाशाय यः प्रोक्त उपायस्तं ब्रवीम्यहम्।
तस्मै कोपेन पूर्णानां देवानां तेजसां चयः॥ २२
एकस्थोऽयं यदा जातो ज्वलन्निव च पर्वतः।
सत्त्वरजस्तमोभेदांस्त्यक्त्वा नाशाय तस्य वै॥ २३
नारीरूपेण चाख्यातः प्रकृतिं स्वां परां गतः।
लोकशक्तिरियं जाता संहता तद्विरोधिनी॥ २४
अत्युत्साहसंपन्ना ननादोच्चैर्मुहुर्मुहुः।
समुद्र इव चोद्वेला प्रचण्डा लोकसंहतिः॥ २५

लोक में महिषासुर न पनपे, इसका उपाय अब बताता हूँ—ऐसे महत्त्वाकांक्षी स्वार्थी, तानाशाह के प्रति सब भले सात्त्विक लोगों का हृदय क्रोध से भर जाता है और सब लोगों का तेज उसके विरोध में इकट्ठा हो जाता है। जनशक्ति का वह तेज ऐसा हो जाता है, जैसे कोई जलता हुआ पहाड़ हो। तब सात्त्विक राजस और तामस वृत्ति वाले लोग अपने अलग-अलग स्वभाव को भूलकर उसके विनाश के लिये एकजुट हो जाते हैं। अपने स्वभाव की एकदम उद्दीप्त पराकाष्ठा को प्राप्त इस लोकशक्ति को श्रीदुर्गासप्तशती में अदम्य शक्ति की प्रतीक

नारी के रूप में चित्रित किया है, क्योंकि इसमें ब्रह्म का शुद्ध, बुद्ध, सत्, चित्, आनन्दमय स्वभाव काम नहीं करता, अपितु तामस वृत्तियों के पुञ्जीभूत उस महिषासुर के विरोध में, सात्त्विक लोगों के नेतृत्व में संघबद्ध सभी सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ एकजुट होकर काम करती हैं। इस अवस्था में इन वृत्तियाँ वाले लोगों में अत्यधिक उत्साह काम करने लगता है और महिषासुर के विरोध में प्रचण्ड आवाजें उठने लगती हैं। यह जनसमुद्र तूफान के समय समुद्र के समान महिषासुर के विरोध में किनारे तोड़कर बहने लगता है॥ २२-२५

(इतिहासे महिषाणामुदाहरणानि)

हिरण्यकशिपुर्वेनो रावणादय एव च।
हिटलरो मुसोलीनीरुपनिवेशशासनम्॥ २६
महिषा एव सर्वाणि तेऽसुराः स्वार्थसंश्रयात्।
स्वार्थवृत्तिर्मनुष्यस्य महिषत्वस्य कारणम्॥ २७
जनाः संघटितास्तेषां विनाशे कृतनिश्चयाः।
तेजसां सर्वदेवानां समाहारः स शक्तिमान्॥ २८
देवीति प्रोच्यते शास्त्रे सर्वदेवमयी हि सा।

अतीत काल में इस प्रकार के बहुत उसुर हुए, जिनका विनाश इसी तरह से सात्त्विक लोगों के नेतृत्व में सभी (सात्त्विक, राजस और तामस) वृत्तियों वाली जनशक्ति ने किया था। उदाहरणार्थ — हिरण्यकशिपु का विनाश जनशक्ति ने सिंह के समान एक झपट्टे में ही कर दिया था। उस समय हिरण्यकशिपु के अत्यन्त आत्मीय, पर हिरण्यकशिपु को फूटी आँख न सुहाने वाले, अत्यन्त सात्त्विक वृत्ति के प्रह्लाद के नेतृत्व में यह क्रान्ति सम्पन्न हुई थी। इसके अनन्तर महाराज वेन का नाम आता है, जिसने लोगों के सात्त्विक और राजस वृत्ति वाले कर्मकाण्डों पर ही रोक लगा दी थी। उस समय समाज में सात्त्विकता के प्रतीक सप्तर्षियों के नेतृत्व में जनशक्ति ने अपने प्रचण्ड हुंकार से वेन को उखाड़ फैंका था। रावण, कंस आदि भी इसी वृत्ति के उदाहरण हैं। आधुनिक काल में हेर् हिटलर, जोजेफ् मुसोलिनी, फ्रांस के लुई सोलहवें और रूस के निकोलस ज़ार इसी प्रकार के महिषासुर थे, जिनका विनाश उनकी वृत्तियों की विरोधी वृत्तियों के संघबद्ध होने पर हुए बहुत समय नहीं बीता है। ये सब महिषासुर ही थे, क्योंकि सबका आधार नितान्त तामसी स्वार्थवृति थी। इस प्रकार के महिषासुरों के विनाश के लिये सब देव (भले सात्त्विक लोग) जब ठान लेते हैं, तब सारी जनता का तेज एकजुट (एकात्म) होकर शक्तिमान् हो जाता है। उसी जनशक्ति को श्रीदुर्गासप्तशती तथा अन्य पुराणशास्त्रों में सर्वदेवमयी देवी के रूप में बताया गया

है॥ २६-२८

आत्मस्थमहिषस्याथ नाशाय गुणसंश्रयः॥ २९
कर्त्तव्यः सर्वदा लोके दोषान्विनाश्य चात्मगान्।
तेषामेव तु नाशेन महिषो नाशमाप्नुयात्॥ ३०

यह तो हुई समष्टि की बात, अब व्यष्टि की सुनिये—अपने भीतर स्थित महिषवृत्ति के विनाश के लिये सात्त्विकता का आश्रय लेना चाहिये और अपने अन्दर की कमजोरियों, तामस वृत्तियों, को दूर करना चाहिये। स्वार्थ का पोषण करने वाली इन दुर्बलताओं का विनाश होने पर ही अपने अन्दर महिषासुर का विनाश संभव है। सब कालों और सब देशों में व्यष्टिगत और समष्टिगत महिषासुर के उत्थान और पतन के विषय में लोगों का यही अनुभव रहा है॥ २९-३०

(महिषत्वकारका दोषाः)

महिषोऽयं सदा लोके दोषान् षड् वै समाश्रयेत्।
कामं क्रोधं मदं लोभं मोहं मात्सर्यमेव च॥ ३१
चिक्षुरादीन् मुनिः प्राह दोषानन्यान्बहूँस्तथा।
तेषामभ्यूहनं कार्यं योगशास्त्रादिदर्शनात्॥ ३२

मनुष्य में जब छह दोष पनपते हैं, तब वह महिष बन जाता है। ये छह दोष हैं :- धर्म (कर्त्तव्य) से अनियन्त्रित (१) इच्छाएँ, (२) क्रोध, (३) अपने ऐश्वर्य और धन, बल, जन शक्तियों का मद, नशा (४) और अधिक और अधिक पाने की चाहत, (५) अपने स्वरूप, मर्यादाओं और सामर्थ्य का अज्ञान तथा (६) डाह। श्रीदुर्गासप्तशती में मुनि ने कथारूपक में इन्हें महिषासुर के (१) चिक्षुर, (२) चामर, (३) उदग्र, (४) असिलोमा, (५) बाष्कल एवं (६) बिडाल नामक छह सेनापतियों के रूप में चित्रित किया है। इन दोषों के होने पर मनुष्य में और भी कुछ दोष पनप जाते हैं। ऋषि ने उन्हें (१) कराल और (२) उग्रास्य नाम दिये हैं। पूर्वोक्त छह दोषों के पनपने की, फैलने की, ये दो स्थितियाँ हैं। योगदर्शन, महाभारत के शान्ति और अनुशासन पर्व, योगवासिष्ठ रामायण, पुराणों और बौद्ध तथा जैन परम्परा के मानवस्वभाव का निरूपण करने वाले शास्त्रों के अध्ययन से इनके बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है॥ ३१-३२

(धर्मस्वरूपनिरूपणम्)

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ३३
परमं भेषजं प्राह मनुर्नाम स धर्मवित्।

विस्तरेणाथ संक्षिप्य पौराणं धर्मलक्षणम्॥ ३४
तपः शौचं दया सत्यं व्यासेनोक्तं चतुर्विधम्।
अल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ३५

धर्म के स्वरूप को जानने वाले मनु ने मनुष्य की सब प्रकार की आधियों की औषध के रूप में धर्म को बताया है। उनके अनुसार धर्म की पहचान दस गुणों से होती है: (१) धैर्य, (२) सहनशीलता, (३) दम, (४) पराई वस्तु को उसकी अनुमति के बिना न लेना, (५) आन्तरिक व बाहरी शुद्धि, स्वच्छता, (६) अपने कर्म-ज्ञानेन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण, (७) धी, समझ (८) विद्या, जानकारी (९) सत्य, जो बात जैसी है, वैसी ही कहना, (१०) क्रोध न करना। मनु ने धर्म का यह स्वरूप विस्तार से बताया है। श्रीमद्भागवत पुराण में व्यासजी ने इसे संक्षेप से (१) तप, कष्ट सहना, (२) शुद्धि, (३) दया एवं (४) सत्य कहा है। इनमें से तप और दया नए हैं, शुद्धि और सत्य मनुप्रोक्त दस में परिगणित हैं। धर्म के विषय में एक बात विशेष महत्त्व की होती है — धर्म के अनेक लक्षणों (गुणों) में से एक का भी आचरण अगर किया जाता है, तो वह बड़े से बड़े भय से रक्षा करता है, अन्य गुण मनुष्य में स्वतः आ जाते हैं॥ ३३-३५

आचारः परमो धर्मो धारयते च धार्यते।
ये देवाः सत्त्वसम्पन्ना धर्मस्तैर्धार्यते सदा॥ ३६
धारयत्यथ तानेष धर्मस्तस्मादयं हरिः।
धृतोऽयं सर्वदा यत्नाद् धारयिष्यति निश्चितम्॥ ३७
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो धृतो नूनं कुर्याद् धारयितुर्हितम्॥ ३८

धृति आदि गुणों को व्यवहार में लाना ही सबसे बड़ा धर्म है। धर्म वह है जो (क) आचरण के रूप में काम में लाया जाता है और (ख) आचरण करने वाले का धारण करता है, उसे विनाश से बचाता है। जिन मनुष्यों का स्वभाव सत्त्वगुण से सम्पन्न होता है, वे देव होतें हैं। वे सदा धर्म का आचरण करके उसे धारण करते हैं। इस प्रकार आचरण में लाये हुए ये गुण चूँकि मनुष्य को गिरने नहीं देते, उसे बनाए, बचाए रखते हैं, इसलिये वे धर्म हैं और धर्म साक्षाद् विष्णु है। अगर धृति आदि गुण जीवन में यत्न से धारण किये जाते हैं, उन्हें आचरण में लाया जाता है, तो यह धर्म निश्चय ही मनुष्य का धारण करेगा। धर्म का अगर हनन होगा, धृति आदि के विपरीत आचरण होगा, तो मनुष्य का विनाश निश्चित है।

अगर इन गुणों का पालन करके इनकी रक्षा होगी, तो यह मनुष्य की रक्षा अवश्य करेगा। इसलिये आचरण में लाया हुआ धर्म आचरण करने वाले का हित अवश्य करेगा॥ ३६-३८

(भगवद्भगवतीनां भेदस्य व्याख्या)

चेतनस्य गुणानां च समूहो लोककारणम्।
चित्तत्त्वं च मुखं कृत्वा ब्रह्मविष्णुशिवा इति॥ ३९
गुणतत्त्वं मुखं कृत्वा काली लक्ष्मीः सरस्वती।
उभयोरपि न भेदोऽस्ति भेदो भाषागतः खलु॥ ४०

चैतन्य और सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के संयोग के कारण संसार का जन्म, विकास और विनाश होता है। जब चैतन्य को मुख्यता दी जाती है, तब यही चिद्गुणसंयोग ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहलाते हैं। जब सत्त्व आदि को मुख्य रूप से कहना इष्ट होता है, तब इस चिद्गुणसंयोग को महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती कहा जाता है। भगवान् और भगवती में कोई भेद नहीं है। भेद तो केवल कहने का है॥ ३९-४०

(देवानां वाहनं धर्मः)

देवं वहति यत् तस्माद् धर्मो देवस्य वाहनम्।
पशवः पक्षिणो वाऽपि वाहनत्वेन रूपिताः॥ ४१

चिद्गुणसंयोगरूप ब्रह्मा, विष्णु, शिव और महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वतीरूप महादेव और महादेवियों तथा इन्हीं के कार्यानुसार नामित अन्य भेदों के रूप में वर्णित देवताओं का चूँकि वहन करता है, इसलिये धर्म ही अमुक देव का अमुक वाहन होता है। कथादृष्टि से रूपक बनाने को अमुक-अमुक देवता के अमुक वाहन रूप धर्म को भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं, पक्षियों और रथों के रूप में चित्रित किया गया है॥ ४१-४२

(पशुपक्षिणां वाहनत्वेन कल्पनाया अर्थः)

पशवो वाहनं लोके दृश्यन्ते ते चतुष्पदाः।
तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिता॥ ४२
पादौ द्वौ च खगानां वै पक्षौ चेति चतुष्टयम्।
बहवश्च गुणास्तेषु चैतन्यं ते वहन्ति वै॥ ४३
इति धर्मप्रतीकास्ते वाहनं देवताऽऽत्मनः।

पशुओं और पक्षियों के लेने के दो कारण प्रतीत होते हैं :-

(क) ये यातायात का साधन होते हैं, अपनी सवारी को वहन करने, ढोने का कार्य करते हैं, अतः इनकी कल्पना वाहन के रूप में की गई है।

(ख) धर्म के वाहक 12 (बारह) लक्षणों में से 4 (चार) लक्षणों —तप, शौच, दया और सत्य का विशेष महत्त्व होता है। इसलिये श्रीमद्भागवत में वृषरूप धर्म के चार पाद बताएँ हैं। पशुओं के तो चार पाँव होते ही हैं, पक्षियों के भी दो पाँव और दो पाँख मिलकर चार चरण होते हैं ॥ ४२-४३

(गोस्वामितुलसीदासनिरूपितो धर्मरथः)

गोस्वामी तुलसीदासो धर्मरथं न्यरूपयत् ॥ ४४
गुणा द्वादश तेनोक्ताः शौर्यधैर्यमुखा इति।
रथोऽयं सुखयात्रायाः[1] प्रतीकं धर्मवाहनम् ॥ ४५

लोक में रथ सुखी यात्रा का साधन है। गोस्वामी तुलसीदास ने (रामचरितमानस, लङ्काकाण्ड, दोहा 79, 3-4 चौपाई में) भगवान् राम के धर्ममय जीवन की कल्पना धर्मरथ के रूप में करके उसके बारह अंग मनुष्य के बारह गुण यों बताए हैं —(१) शौर्य, (२) धैर्य, (३) सत्य, (४) शील, (५) बल, (६) विवेक, (७) दम, (८) परोपकार, (९) क्षमा, (१०) दया, (११) समता और (१२) ईश्वर के प्रति समर्पण :

सौरज धीरज तेहि रथा चाका, सत्य, सील दृढ ध्वजा पताका।
बल, विवेक, दम, परहित घोरे, छमा, कृपा, समता रजु जोरे ॥
ईशभजनु सारथी सुजाना ॥ ४४-४५

(गरुडादयो धर्मस्यैव भेदाः)

गरुडो विष्णुदेवस्य ब्रह्मणो हंस एव च।
वृषः शिवस्य यत्प्रोक्तो धर्मस्यैव भिदा इमाः ॥ ४६

गरुड़ को विष्णु का, हंस को ब्रह्मा का और वृष को शिव का वाहन जो बताया गया है, वह उस देवता के अमुक-अमुक धारक गुण को प्रकट करने वाले भेद होते हैं ॥ ४६

(देववाहनानां स्वरूपम्)

कार्यकारणविज्ञानं हंसोऽयं सृष्टिकारणम्।
गरुत्मान्स्तुतिरूपोऽयं स्थितौ लोकस्य कारणम् ॥ ४७
वृषो वर्षति कामान्त्स सर्वस्यायं वरो मतः।
शिवस्य वाहनं तस्माद् वृषो धर्मः सतां मतः ॥ ४८

1. द्रष्टव्यं निरुक्तं 3.5: रथः .... स्तुततमं यानम्। 9.11 : रथो (क) रंहतेर्गतिकर्मणः, (ख) स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, (ग) रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा।

(१) सृष्टि की रचना कारणवस्तु से कार्यवस्तु के रूप में होती है। अतः इसके लिए ब्रह्मा अर्थात् स्त्रष्टा को कारण और कार्य के स्वरूप तथा सम्बन्ध का विशेष ज्ञान होना अपेक्षित होता है। ब्रह्मा का वाहन हंस इसी तत्त्व को प्रकट करता है। लोक में हंस की तीन विशेषताएँ प्रसिद्ध हैं — (क) त्याज्य और ग्राह्य में विवेक, (ख) शुद्ध, शुभ्र वर्ण और (ग) कर्णप्रिय ध्वनि। रचनेच्छुक मनुष्य को अपने में ये गुण धारण करने चाहियें, यह इस रूपक का तात्पर्य है।

(२) गुणी के गुणों की प्रशंसा 'स्तुति' कहलाती है। सृष्टि के विकास और धारण के लिये गुणी के गुण की पहचान और गुणी का संग्रह परमावश्यक है। विष्णु के गरुड वाहन का प्रतीकार्थ यही है। पुराणों में गरुड को स्तुति का प्रतीक बताया है।

(३) 'वृष' बिजार साँढ को कहते हैं। प्रवृतिमार्गी लोगों की छोटी-बड़ी इच्छाओं की पूर्ति से मनुष्य का विकासमार्ग प्रशस्त होता है। आवागमन चक्र से मुक्ति परम वर है। निवृतिमार्गी के इस वर को देना शिव का परम अनुग्रह है। अतः वृष को लौकिक अभ्युदय और परम निःश्रेयस करने वाले शिव का वाहन बताया है। इसी कारण शिव सात्त्विक, राजस और तामस सभी वृत्तियों वाले मनुष्यों के आराध्य हैं। वैशेषिकोक्त अभ्युदय और निःश्रेयस रूप धर्म की वर्षा करने के कारण वृष शब्द तो धर्म का पर्याय ही बन गया है। ४७-४८

विष्णोर्यद् गरुडः सोऽयं देव्या वै वाहनं हरिः।
महिषाद्यसुरान् यद् वै हन्तीति सिंह उच्यते॥ ४९
दुष्टेभ्यस्तु करालास्यः सौम्येभ्यो मुद्रिताननः।
यथा यो वर्तते धर्मे धर्मस्तस्मिंस्तथाविधः॥ ५०
हिनस्त्यसुरबुद्धीन्यद् दुर्गाऽस्ति सिंहवाहिनी।
आत्मस्थासुरबुद्धेस्तु नाशायोपास्यते बुधैः॥ ५१
सरोजे तु स्थिता लक्ष्मीर्विष्णोर्यन्नाभिसंस्थितम्।
या तु मोहयते लक्ष्मीस्तदुलूकस्तु वाहनम्॥ ५२
गरुत्मानन्यथा तस्या वाहनं धर्मवृत्तये।
राजसस्तामसो वृंत्ति नो वै गरुडवाहिनीम्॥ ५३
शिवस्योरस्यथारूढा दुर्वृत्तेः कालरूपिणी।
शवोऽस्ति वाहनं काल्या ब्रह्माणी हंसवाहिनी॥ ५४
वाहनं यत्तु देवस्य यथारूपा च देवता।
तच्छक्तेर्वाहनं रूपं तदेवाभेदतस्तयोः॥ ५५

(४) महिष आदि आसुरी बुद्धि वालों को धर्म नष्ट करता है, अतः हिंस् के वर्णविपर्यय से दुर्गा के वाहन को सिंह कहते हैं। दुष्टों के लिये इसका मुख विकट (खुला हुआ) और भक्तों के लिए सौम्य, अतएव बन्द, होता है।

(५) महालक्ष्मी के (क) विष्णुप्रिया (कल्याणकारी, धर्मानुकूल) स्वरूप का आसन विष्णु की नाभि में उत्पन्न कमल है। पर (ख) प्रवृत्तिमार्गी लोगों को लुभाने, मोहित करने वाले स्वरूप को बताने के लिये अज्ञान, मोह के प्रतीक उलूक को महालक्ष्मी का वाहन बताया है।

(६) तमोगुणप्रधान भगवती काली आसुरी वृत्तियों का विनाश करती है। अतः प्रवृत्तिमार्गी लोगों के लिये उनका वाहन शव बताया है। पुरुषदेवताओं का जो वाहन बताया है, उनकी शक्ति के रूप में वर्णित स्त्रीदेवताओं का भी वही वाहन बताया है, क्योंकि भगवान् और भगवती में, शक्तिमान् और शक्ति में, तत्त्वतः कोई भेद नहीं होता ॥ ४९-५५

(देव्यसुरयोर्युद्धस्य तात्पर्यम्)

कामक्रोधादयो ये वै महिषस्य सहायकाः।
अपिच्छिन्ना विवेकाद्यैः शस्त्रैस्ते पुनरुत्थिताः॥ ५६
सत्त्वाश्रयेण किन्त्वेषां क्षयो नूनं भवेदिह।
धर्मोऽयं वाहनं देव्या अन्तस्थायाश्चिदात्मनः॥ ५७
सत्त्वप्रकाशने नूनं नाशयत्यसुरान् सदा।

महिष के काम, क्रोध आदि जो सहायक हैं, उनका विनाश विवेक आदि शस्त्रों से यद्यपि हो जाता है, पर वे मौका पाकर फिर उठ खड़े होते हैं। इनका विनाश पुनः-पुनः सत्त्वगुण का आश्रय लेकर ही किया जा सकता है। मनुष्य के हृदय में स्थित चैतन्य से युक्त सत्त्वगुण रूप भगवती का वाहन सिंह यह धर्म ही है। जब मनुष्य के हृदय में सत्त्व गुण का प्रकाश होता है, तब हृदय में स्थित यह धर्मरूप सिंह आसुर भावों को अवश्य पराभूत करता है॥ ५६-५७

(इच्छापूर्तौ देवैर्देव्याः स्तुतिः)

एवं कामादिकान् दृष्ट्वा क्षीयमाणान् हृदि स्थितान्॥ ५८
सत्त्वस्थास्ते तदा देवास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः।
कामानां पूरणे जाते निहते महिषेऽसुरे॥ ५९

मनुष्य के हृदय में स्थित काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि

दोषों को हृदय में प्रकाशित सत्त्व गुण के कारण क्षीण होता देखकर कृतज्ञ देवता (भक्तजन) पुष्पों की वर्षा करते हुए भगवती की स्तुति करने लगे॥ ५८-५९

(ग्रन्थकर्तुः प्रार्थना)

जयतु जयतु भवानी, रक्षिका साधुवृत्तेर्,
जगति जयतु शुभानां, चोदयित्री पराम्बा।
भवतु मम सुवृत्तिर्लोकसेवासु नित्यं,
भवतु च सुकृतानां, सन्ततिर्लोकरम्या॥ ६०
तृतीयोऽयमथाध्यायः सम्पूर्णः कृपया तव।
भवेशगेहिनि त्वं मे धर्म्याशापूरणी भव॥ ६१

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे तृतीयोऽध्यायः॥

परोपकार की वृत्ति की रक्षिका भगवती भवानी की निरतिशय जय होवे। जगत् के कल्याणों को प्रेरित करने वाली जगदम्बा की जय होवे। लोक की सेवा में मेरी अच्छी वृत्ति हमेशा बनी रहे। अच्छे लोगों को भाने वाले मेरे कार्यों की परम्परा बनी रहे। हे जगत्पति के घर इस संसार की स्वामिनी भवानी, आपकी कृपा से 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' ग्रन्थ में यह तीसरा अध्याय सम्पूर्ण हो गया है। आप मेरी धर्मानुकूल सब आशाओं को पूर्ण करने की कृपा करें॥ ६०-६१

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में तृतीय अध्याय संपूर्ण हुआ॥

चतुर्थोऽध्यायः

(महिष-मर्दिन्या ध्यानम्)

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां,
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं,
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥ १

अमुक मैं भगवती महालक्ष्मी की वन्दना करता हूँ। वे कमल पर विराजमान हैं। इन जगदम्बा ने हजारों उगते सूर्यों के समान चमकीले, अरुण वर्ण के रेशमी वस्त्र शरीर पर धारण किये हुए हैं और मुण्डमाला पहनी हुई है। उन्होंने अपने वक्षस्थल को असुरों के खून से लीपा हुआ है। अपने कमल के समान कोमल और सुन्दर एक हाथ में माला और दूसरे में पुस्तक ली हुई है। तीसरे हाथ

में भक्तों के लिये अभय मुद्रा और चौथे को वर देने की मुद्रा के रूप में धारण किया हुआ है। उनके कमल के समान सादगी, सुन्दरता, कोमलता और सुगन्ध से युक्त मुख की शोभा तीन नेत्रों से और भी लुभावनी हो गई है। उनका मुकुट चन्द्रमा और रत्नों से युक्त है॥ १

(महिषासुरनाशोपायस्य कथनम्)

सर्वस्य महिषो बुद्धावस्ति कामादिसंश्रयात्।
असौ येन प्रकारेण नाश्येतेति विविच्यते॥ २

काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य (डाह) और राग तथा द्वेषदोष जिसकी बुद्धि में होता है, वह मनुष्य महिषासुर होता है। उसका नाश किस प्रकार किया जा सकता है, यह विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है॥ २

(महिषासुरमर्दिन्या ध्यानस्य व्याख्या)

सर्वदेवीस्वरूपेषु भवत्यायुधवर्णनम्।
अस्या यद् वर्तते ध्यानं न तत्रायुधसंश्रयः॥ ३
सेयं चतुर्भुजा देवी धर्मकामार्थमोक्षदा।
यद्रूपो महिषः सोऽयमहंकारप्रवर्धितः॥ ४
तं नाशयति यैरेव चतुर्भिः साधनैरियम्।
माला विद्या तथाऽभीतिर्वरो हस्ते चतुर्थके॥ ५

देवी के सभी स्वरूपों के ध्यानवर्णनों में आयुधों का वर्णन उपलब्ध होता है, किन्तु महिषासुरमर्दिनी देवी का जो ध्यान बताया गया है, उसमें देवी के हाथों में अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन नहीं किया गया है। महिषमर्दिनी देवी के चार हाथ बताए गए हैं और यह इनसे धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ प्रदान करती है। इस महिष का जो स्वरूप है, वह अभिमान भाव से वृद्धि को प्राप्त होता है। अहंकार रूप इस महिषासुर का नाश यह देवी जिन चार साधनों से करती है, वे ये हैं— (१) नामजप का साधन माला, (२) तत्त्वज्ञानरूप विद्या, (३) उसके फलस्वरूप प्राप्त अभयभावना, (४) एवं चौथे हाथ में लौकिक अभ्युदय और मोक्षरूप निःश्रेयस॥ ३-५

भक्तिं जपवटी प्राह विद्या ज्ञानं ततः परम्।
वैराग्यादुत्तरं यत्तद्भक्तिपुत्रेति कीर्तितम्॥ ६
भक्तौ ज्ञाने विरोधो न भक्तिर्ज्ञानावसायिनी।
'अहमेवास्मि, नान्यो मद्', विद्याऽद्वैतं परं मतम्॥ ७
ज्ञानं धारा क्षुरस्येयं क्षतभ्रंशौ पदे-पदे।

अत्यन्तं सावधानेन गन्तव्यं ज्ञानवर्त्मनि॥ ८
राजमार्गोऽस्ति भक्तिस्तु सुरक्षित ऋजुस्तथा।
निष्कण्टक एवायं निर्बाधः सर्वतोमुखः॥ ९
धावन्निमील्य वै नेत्रे न पतेच्च कदाचन।
जपो नाम्नपश्च तत्राद्यं सद्भिः साधनमीरितम्॥ १०

(१) 'जपमाला' से (क) गुणों में प्रकाशित चैतन्य अथवा (ख) चैतन्य से प्रकाशित गुण के प्रति भक्ति इष्ट है।

(२) 'विद्या' से भक्ति के बाद होने वाला वैराग्यसहोदर, जगत् की वास्तविकता का विवेक कराने वाला ज्ञान इष्ट है। शास्त्र में इसलिये इन्हें भक्ति के पुत्र कहा गया है। भक्ति और ज्ञान में विरोध नहीं है, अपितु भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में होता है। 'यह जगत् और मैं एक ही हैं, मुझ से भिन्न कुछ नहीं है', यह अद्वैत भावना 'विद्या' है और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। ज्ञानमार्ग छुरे की धार के समान पतला और तीक्ष्ण है। इस पर चलने वाले को पग-पग पर पतन का और चोट खाने का डर होता है। इसलिये ज्ञानमार्ग पर बहुत सावधानी से चलने की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत, भक्तिमार्ग सब मार्गों से श्रेष्ठ है — यह १. सुरक्षित, २. सरल, ३. विघ्न-बाधाओं से रहित, और ४. सब तरफ जाने वाला है— इस पर चलने वाला मनुष्य अपनी भक्ति के स्वरूप और विषय के अनुसार छोटे-मोटे जागतिक सुखों से लेकर परम सुख मोक्ष तक पहुँचने में समर्थ है। इस पर चलने वाला मनुष्य आँख मूँद कर अगर दौड़े भी, तो उसे गिरने का भय नहीं है। सन्तों ने इस भक्तिमार्ग में सब से पहला साधन इष्टदेव के नाम का जप बताया है॥ ६-१०

द्वितीयाद् वै भयं लोके कैवल्ये रम्यसंस्थितिः।
इति केवलिनस्तस्मान्न सज्जन्ते न बिभ्यति॥ ११

(३) भय दूसरे से होता है। जब विद्या से अद्वैतभावना सिद्ध हो जाती है, तब कैवल्यभाव प्राप्त होने पर मनुष्य भय से रहित हो जाता है। इसलिये केवलाद्वैत को प्राप्त मनुष्य न किसी पदार्थ में आसक्त होता है और न डरता है —आसक्ति का पात्र या भय का हेतु कोई केवली को है ही नहीं॥ ११

अभये संस्थितो लोको वरं सर्वमथाप्नुयात्।
प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य पश्योन्मील्य तु लोचने॥ १२
यावती यादृशी चैव वर्ततेऽभयभावना।
तावन्तं तादृशं चैव वरं लोकस्तथाप्नुयात्॥ १३

(४) जब मनुष्य निर्भय हो जाता है, तब उसे सब अभीष्ट (वर) प्राप्त हो

जाते हैं — वह जागतिक दु:खों से मुक्त हो जाता है। यह बात सब लोगों को प्रत्यक्ष है, जरा आँखें खोलकर देखो तो। मनुष्य में अभयभावना जितनी और जैसी होती है, वह उतना और वैसा ही वर प्राप्त करता है॥ १२-१३

सर्वाधिकारपात्रं वै देहो म इति मूढता।
महिषासुरभावस्य परमं कारणं मतम्॥ १४
भक्तौ ज्ञाने ततोऽभीतौ मोहोऽयं नश्यति ध्रुवम्।
महिषासुरभावस्य नाशस्तेनाथ सम्भवेत्॥ १५
मोहनाशो भवेन्नूनं सत्त्वे चैतन्यसंयुते।
इयमेव महालक्ष्मीर्वन्दे तामरविन्दगाम्॥ १६

मैं, अर्थात् मेरा यह शरीर, सब अधिकारों का पात्र है, यह गलतफहमी मनुष्य के महिषासुर होने का सबसे बड़ा कारण माना गया है। पहले किसी के प्रति भक्ति (समर्पण) भाव होने पर ज्ञान होता है, उसके बाद निर्भयता की स्थिति आती है। अभयभाव सिद्ध होने पर मनुष्य का अपने बारे में व्यामोह निश्चय ही नष्ट हो जाता है। इस मोह के नष्ट होने पर मनुष्य के महिषासुरभाव का नाश होने में संशय नहीं है। और यह तब होता है, जब चैतन्य सत्त्वगुण में अधिष्ठित होता है। चैतन्य जिसमें समाहित है, वह सत्त्व गुण ही महालक्ष्मी है। हृदय में स्थित उसकी मैं वन्दना करता हूँ॥ १४-१६

(महिषासुरसेनानीनां तात्पर्यम्)

महिषस्य सहाया ये दोषाः सृष्टेः स्थितौ तदा।
विहन्तारो हता देव्या चिद्युक्तसत्त्वरूपया॥ १७
चिक्षुरश्चामरो दैत्या उदग्रश्च करालकः।
उद्धतो बाष्कलश्चेति षडिमे महिषाश्रयाः॥ १८
कामक्रोधौ मदो लोभो मोहो मात्सर्यमेव च।
यस्येमे प्रबलाः षड् वै जनः स महिषो भवेत्॥ १९
सर्वत्र सर्वकालेषु दोषाः कामादयो जने।
युध्यन्त्यतिबलेनैते देव्या सिंहेन चैव हि॥ २०
कामादीनां विरोधोऽस्ति धर्मेणेति च निश्चितम्।
कामादिभिर्मनुष्यस्य धारणं न तु संभवम्॥ २१

यह तो हुई भेदमय जगत् की, प्रवृत्तिमार्ग की बात। जिसमें सब भेद समाप्त हो जाते हैं, जो सर्वत्र एक अद्वितीय तत्त्व को ही लक्षित करता है, वह ज्ञानमार्ग भी हे देवी, तुम्हारी महिमा पर ही आश्रित है। लोक (व्यक्त जगत्) से भिन्न अलोक (इन्द्रियातीत) का ज्ञान कराने वाली विद्या का सिर्फ अनुभव किया जा सकता है।

कामादिक दोष शान्त हो जाते हैं। महिषासुर के छह सहायक ये हैं — १. चिक्षुर, २. चामर, ३. उदग्र, ४. कराल, ५. उद्धत, ६. बाष्कल। इन्हीं छह के बल पर मनुष्य महिष (स्वार्थपरायण महत्त्वाकाङ्क्षी) बनता है। मनुष्य के हृदय में ये छह दोष इस प्रकार हैं— १. इच्छा, २. क्रोध, ३. मद, ४. लोभ, ५. मोह, ६. मात्सर्य (डाह)। मनुष्य में जब ये छह प्रबल होते हैं, तब वह सीधा-सादा मनुष्य न रहकर महिषासुर हो जाता है। ये छह बहुत प्रबलता से देवी और उसके वाहन सिंह (धर्म) के साथ लड़ते हैं — धर्मभंग करते हैं। सब स्थानों और सब कालों में ये काम, क्रोध आदि छह दोष मनुष्य की बुद्धि में उत्पन्न होते रहते हैं और इन वृत्तियों का संघर्ष चित्प्रकाशित त्रिगुणा और उसके वाहक धर्म के साथ प्रबल वेग से चलता है। उपर्युक्त कामादिक छह दोषों को मन में पनपाने से मनुष्य का धारण (बने रहना) संभव नहीं है, अतः ये अधर्मरूप हैं॥ १७-२१

(कामादीनां स्वरूपम्)

काम इच्छा मनुष्येषु रूपादिविषया मतिः।
कामेऽपूर्णे पुनः क्रोधो विषादो वोपजायते॥ २२
लब्धे कामफले पुंसो मदः स्यादात्ममानकृत्।
अधिका कामसौख्याप्तिरिति लोभोऽभिजायते॥ २३
आत्मस्वरूपविभ्रान्तिर्मोहो मात्सर्यमेव च।
परकीयसुखद्वेषः प्रवृत्तौ पुरुषे त्विमे॥ २४

१. मनुष्यों में रूप आदि इन्द्रियविषयों के प्रति लगाव के रूप में इच्छा 'काम' है। २. वह इच्छा जब पूरी नहीं होती, तब मनुष्य में या तो (क) 'क्रोध' उत्पन्न होता है या (ख) विषाद (depression) उत्पन्न होता है। ३. इसके विपरीत इच्छा का फल जब मिल जाता है, तब मनुष्य के मन में अपना मान बढ़ाने वाला 'मद' उत्पन्न हो जाता है — 'वाह रे हम' का नशा हो जाता है। ४. इसके बाद 'इच्छापूर्तिजन्य सुख की प्राप्ति और अधिक होवे', इस प्रकार का लोभ (लालच) मनुष्य के मन में हो जाता है। ५. इसके उत्पन्न होने पर मनुष्य अपना स्वरूप, लक्ष्य, हैसियत सब भूल जाता है। इसे 'मोह' कहते हैं। ६. इसके अनन्तर जब कोई अन्य जन आगे बढ़ता नजर आता है, तो मनुष्य के मन में मात्सर्य (डाह) उत्पन्न हो जाता है। दूसरे को होने वाले सुख के प्रति द्वेषबुद्धि को 'मात्सर्य' कहते हैं। इन छह दोषों का आश्रय प्रवृत्तिमार्गी पुरुष बनता है॥ २२-२४

(कामस्य पूर्त्यपूर्त्योः फलयोस्तुलना)

क्रोधो विषाद इत्येतौ हते कामे तु दूषणौ।

पूर्णे कामे तु चत्वारो दूषयन्ति च मानसम्॥ २५

इच्छा के पूर्ण न होने पर दुनियाँदारी के आदमी के मन में केवल दो दोष (क) 'क्रोध' अथवा (ख) निराशा, कुण्ठा उत्पन्न होते हैं। किन्तु इच्छा की पूर्त्ति होने पर मद, लोभ, मोह और मात्सर्य — ये चार दोष उत्पन्न हो जाते हैं और मनुष्य की बुद्धि को दूषित करते हैं॥ २५

(सिंहस्य चिक्षुरचामराभ्यां सह युद्धस्य तात्पर्यम्)

कामक्रोधौ पुनर्धर्मं विहतस्तौ विशेषतः।
धर्मसिंहेन युद्धं तु चिक्षुरश्चामरस्तथा॥ २६
कुर्वाते इति ते देव्या युध्यन्ते सर्व एव हि।
कामक्रोधौ प्रयत्नेन निरोद्धुं यत्नमाश्रयेत्॥ २७
यन्त्रिते कामदोषे तु क्रोधाद्याश्चैव कामजाः।
सर्व एव नियम्यन्ते कामस्तस्मान्नियन्त्र्यताम्॥ २८
धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि ब्रुवन्निति स्वयं हरिः।
कामस्य निग्रहे धर्मः समर्थोस्तीत्यसूचयत्॥ २९
कामो मूलं समस्तस्य जगतः कारणं परम्।
'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्॥ ३०
नासदीयश्रुतौ चैतत्स्पष्टमुक्तं महर्षिणा।
सम्यगेतद् विचार्याथ कामानां निग्रहं कुरु॥ ३१

इन छह दोषों में भी धर्मपालन में बाधा काम, क्रोध आदि दोष ही विशेष रूप से डालते हैं।[1] इस कारण श्रीदुर्गासप्तशती में काम के प्रतीक 'चिक्षुर' और क्रोध के प्रतीक 'चामर' का सिंह (धर्म) के साथ संघर्ष बताया है। धर्म की अधिष्ठात्री महादेवी के साथ युद्ध तो सभी असुर करते बताए हैं। इसलिए चाहे प्रवृत्तिमार्गी हो, चाहे निवृतिमार्गी, दोनों प्रकार के मनुष्य को चाहिये कि वह चाहत और क्रोध को नियंत्रण में रखने का प्रयत्न विशेष रूप से करे। इनमें से भी इच्छाओं को नियंत्रित करने का प्रयत्न विशेष रूप से आवश्यक है। क्योंकि इच्छाओं को नियंत्रित करने पर (क) पूर्ण या (ख) अपूर्ण इच्छाओं के फलस्वरूप उत्पन्न (क) क्रोध और, (ख) निराशा तथा (ग) मद आदि दोष स्वतः नियंत्रित

1. यही कारण है कि हिरण्यकशिपु और रावण आदि को काम (इच्छाओं) का दास और क्रोध का पुतला विशेष रूप से बताया गया है। मद आदि के कारण तो मनुष्य कभी-कभी कर्त्तव्यपालन के प्रयास का आभास देता भी देखा जाता है। अतः मद आदि चार दोष तो धर्म के सामान्य बाधक हैं, विशेष नहीं।

हो जाएँगे। भगवान ने गीता में जब यह बताया है कि धर्म की जो विरोधी नहीं है, इस प्रकार की इच्छाएँ मैं स्वयं (कृष्ण) हूँ, तब इससे उनका तात्पर्य यह है कि इच्छाओं को धर्म (धृति आदि गुणों) के अधीन करने से काम का नियंत्रण सम्भव है। इच्छाओं को नियंत्रित करने में धर्म का, कर्त्तव्य का, बोध और आचरण समर्थ हैं। जगत् के आविर्भाव, विकास और विनाश का एक मात्र कारण इच्छा है। ऋग्वेदसंहिता के नासदीय सूक्त (10.129.4) में महर्षि प्रजापति परमेष्ठी ने यह स्पष्ट बताया है— सृष्टि के मूल में इच्छा है, जो मन का प्रथम बीज है। यह सब भली-भाँती विचार कर इच्छाओं को नियंत्रित करने का यत्न करना चाहिये॥ २६-३१

(देवीमहिषासुरयोर्युद्धस्य तात्पर्यम्)

एवं संक्षीयमाणे तु स्वसैन्ये महिषासुरः।
मानवीयगुणांस्त्यक्त्वा पाशवं भावमास्थितः॥ ३२
आहारभयनिद्रासु मैथुने त्वतितर्षवान्।
विस्मृत्य मानवं भावं देहमात्रे रतस्तदा॥ ३३
सत्त्वप्रकाशसंवित्तिं हृदयस्थां न पश्यति।
इयमेव हतिर्देव्या महिषेण कृता तदा॥ ३४

इस प्रकार जब महिषासुर की सेना सिंह और देवी के द्वारा नष्ट की जा रही होती है, तब महिषासुर, अर्थात् आसुर वृत्ति वाला मानव, अपने विकास के लिए निर्धारित किये गुणों को छोड़ देता है और पशुओं के धर्म (विषयों के भोग) में अविवेक को अपना लेता है। उसकी तृष्णा खाने-पीने, मौज-मस्ती करने, भय और निद्रा जैसी प्राकृत प्रवृत्तियों में बढ़ जाती है। वह मनुष्य के स्वभाव को भुला देता है और केवल देहभोगों में ही पशुवद् रम जाता है। इस स्थिति में वह अपनी बुद्धि में स्थित सत्त्व गुण में प्रकाशित चैतन्य को नहीं देखता। महिष के द्वारा देवी पर प्रहारों का यही तात्पर्य है॥ ३२-३४

(धर्माविरुद्धाचरणेन महिषस्य नाशः)

तत्रापि विरतो नाऽसौ यदा धर्मं विहन्ति वै।
अधर्मो हृदये स्थानं द्वादशात्मा करोति च॥ ३५
तेनाहंकारवृद्धिश्च जायते परमाऽस्य सा।
कोपं तदाऽम्बा कुरुतेऽसहमाना हतिं तु ताम्॥ ३६
वारुणेन तु पाशेन धर्महन्ता हि बध्यते।
ऋतस्य वरुणो हानिं सहते न ऋतस्पतिः॥ ३७

हृदय में प्रकाशित चैतन्य की उपेक्षा करने पर मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म के

विरुद्ध आचरण की हो जाती है। वह धृति आदि धारक गुणों को अपने आचरण से निकाल देता है और १. अधैर्य, २. असहिष्णुता, ३. आत्मनियन्त्रण का अभाव, ४. चोरी, ५. आन्तरिक और बाह्य अस्वच्छता, ६. इन्द्रियों पर अनियंत्रण, ७. कुबुद्धि, ८. अज्ञान (वस्तु को उसके सही रूप में न समझना), ९. असत्य, १०. क्रोध, ११. आरामतलबी और १२. क्रूरता दोषों को अपना लेता है। मनुष्य के अन्तःकरण में चैतन्य से प्रकाशित सत्त्व गुण उसके इस व्यवहार को सहन नहीं कर पाता। मनुष्य के ऐसा करने से जगत् की मर्यादाओं के रक्षक, जगत् के राजा, ऋतस्पति वरुण[1] उसके अज्ञान के कारण किये इस अनाचार को सहन नहीं कर पाते हैं[2] और वह ऋतभङ्ग करने के अपराध में वरुण के कोप का भाजन होता है। वरुण उसे अपनी दण्ड देने की व्यवस्था के अन्तर्गत अपने पाश से बाँध लेते हैं। देवी द्वारा महिष को पाश से बाँधने का यही तात्पर्य है॥ ३५-३७

मायाश्च कुरुते नाना माहिषं धर्ममास्थितः।
देहदैहिकरागाख्यमधुपानमदोद्धतः॥ ३८

परन्तु अज्ञानी मनुष्य वरुण की इस व्यवस्था को समझ नहीं पाता और अपने अज्ञान से गलती पर गलती करता जाता है। तरह-तरह की मायाएँ छल प्रपञ्च, उस स्थिति में भी, अपने मोहयुक्त अहंकारी स्वभाव के अधीन करने लगता है। शरीर और शरीर से संबद्ध वस्तुओं तथा उनसे प्राप्त होने वाले सुखों के प्रति राग नामक मदिरा को पीकर उसका मद बढ़ जाता है और उसके कारण वह उद्दण्ड हो जाता है। उसकी अधर्म की प्रवृत्ति और बढ़ती जाती है॥ ३८

(देव्या मधुपानस्य तात्पर्यम्)

सात्त्विकानन्दमाधुर्यं मधुपानमथोत्तमम्।
पीत्वा माद्यन्ति सत्त्वस्थाश्चण्डिका तत्पपौ मधु॥ ३९

इसके विपरीत सात्त्विक लोग सात्त्विक आनन्द के माधुर्यरूपी उत्तम मधु को पीकर मस्त रहते हैं। चण्डिका द्वारा मधुपान का यही तात्पर्य है॥ ३९

(देव्या महिषस्य वधः)

चित्प्रकाशो गुणः शूलं कण्ठः स येन चानिति।
सत्त्वमस्यास्तथा पादः कण्ठ आक्रम्य तेन सा॥ ४०

---

1. **वरुणः .... सतो अस्य राजा** (ऋग्वेद 7.87.6)। ऋषि वसिष्ठ ने ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में वरुण के सूक्तों में वरुण के ऋत का पालन करने वाले को उस के सखा आदि बन्धु के रूप में, और ऋतभङ्ग करने वाले को दण्ड का पात्र बताया है।

2. **अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम, मा नस्तस्मादेनसो देव, रीरिषः** (ऋग्वेद 7.89.5)।

अताडयच्छिरश्छित्त्वा चासिना तं न्यपातयत्।
माहिषो भाव एवं वै सत्त्वमाश्रित्य नाश्यते॥ ४१

चैतन्य से प्रकाशित गुण ही शूल है। कण्ठ से तात्पर्य है महिषासुर जिसके द्वारा अपने महत्वाकाङ्क्षी जीवन के लिये अपेक्षित क्रियाएँ करता है, वे साधन। भगवती का सत्त्व गुण ही भगवती के चरण से अभिप्रेत है। उस चरण को भगवती महिष के कण्ठ पर रखकर शूल से, अर्थात् चित्प्रकाश से युक्त सत्त्वगुण के अभ्युदय से, उस पर प्रहार करती है और अपनी तलवार से उसका शिर काट देती है। इस प्रकार महिषासुर के स्वभाव अहंकार का विनाश सत्त्व गुण का आश्रय लेकर किया जाता है॥ ४०-४१

(अध्यायसमाप्तिकालः)

दुर्गातत्त्वविमर्शेऽस्मिन्नध्यायोऽयं तुरीयकः।
निरूपितोऽर्धरात्रात्प्राङ् मध्ये मध्ये विरम्य वै॥ ४२

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे चतुर्थोऽध्यायः॥

इस 'दुर्गातत्त्वविमर्श' नामक संस्कृत ग्रन्थ में १२ जुलाई २००२ को प्रातः ९.३० पर प्रारब्ध यह चौथा अध्याय बीच में रुक-रुक कर आधी रात से कुछ पहले सम्पूर्ण किया॥ ४२

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में चतुर्थ अध्याय संपूर्ण हुआ॥

पञ्चमोऽध्यायः

(कृतज्ञैर्देवैर्देव्याः स्तुतिः)

त्रैलोक्यभीषण इमे महिषस्वभावे इन्द्रादयश्च विबुधा निहतेऽतिवीर्ये।
तां तुष्टुवुः प्रणतिनम्रशिरोधरांसाः स्मृत्वोपकारमथ ते विनयिस्वभावाः॥ १

अध्यात्म पक्ष में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीररूप तीनों लोकों को, अधिभूत पक्ष में भौतिक जगत् के पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर् इन तीनों लोकों को और अधिदेव पक्ष में तीन गुणों से प्रकाशित होने से तीन रूपों में प्रकाशित चैतन्य अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव को धर्मविरोधी अनाचरणों से भयभीत करने वाला अत्यन्त पराक्रमी महिषासुर जब मारा गया, तब विनीत स्वभाव वाले देवताओं, साधु पुरुषों की गर्दन और कन्धे देवी के उपकार को स्मरण करके प्रणाम करने के लिए झुक गए और उन्होंने देवीकी स्तुति इस प्रकार की — ॥ १

(भक्तानां शुभं कर्तुं प्रार्थना)

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या, त्रैगुण्यवर्तिचितितोऽखिललोककर्त्र्या।
ताममम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां, भक्त्या नताः स्म, विदधातु शुभानि सा नः॥ २
शक्तिः स्वयं साऽखिललोकरक्षां, कर्तुं विनाशं ह्यशुभाच्च भीतेः।
मतिं सदा नः शरणं गतानां, कल्याणकामा कुरुतात् पराऽम्बा॥ ३

तीन गुणों में प्रकट चैतन्य वाली, सब लोकों की रचना करने वाली, जगत् की अपनी शक्तिरूपा, जिस भगवती त्रिगुणा महामाया ने इस जगत् का ब्रह्मा के रूप में निर्माण और विष्णु के रूप में विकास किया है, सब बड़े-बड़े ऋषियों एवं देवताओं के द्वारा पूजा किये जाने योग्य उस जगदम्बा के प्रति हम समर्पण भाव से विनीत हैं। वह हमारी रक्षा करे। हम उस सर्वोपरि जगन्माता शक्ति की शरण में आए हैं। हमारा कल्याण चाहने वाली वह शक्ति समस्त जगत् की रक्षा करने के लिये तथा किसी भी अशुभ से भय का विनाश करने को सदा अपना मन बनाने की कृपा किये रहें॥ २-३

(लक्ष्म्यलक्ष्मीबुद्धिलज्जाऽऽदिरूपाऽम्बैव)[1]

चैतन्यसंविदारूपा त्रिगुणेयं पराम्बिका।
सुकृतीनां गृहे लक्ष्मीरलक्ष्मीः पापकर्मणाम्॥ ४
ज्ञानप्रकाशिलोकस्य हृदये बुद्धिरेव सा।
श्रद्धा सतां हृदिस्था च सत्सर्वत्र च पश्यताम्॥ ५
लज्जेयं प्रमदाचित्ते नतास्तां सा च रक्षतु।
एभिर्भावैः सदाऽस्माकं हृदये साऽस्तु शाश्वती॥ ६

इस त्रिगुणा भगवती में जड़-चेतन का मेल हुआ हुआ है। यह सत्कर्म करने वालों के घर में लक्ष्मी के रूप में और पापियों के घर में दरिद्रता के रूप में होती है। जो लोग ज्ञान के प्रकाश से युक्त होते हैं, उनके हृदय में यह देवी बुद्धि के रूप में रहती है। सब देशों, कालों और वस्तुओं में सत् तत्त्व को ही देखने वाले सत्पुरुषों के हृदय में वह श्रद्धा के रूप में, स्त्रियों के हृदय में लज्जा के रूप में होती है। ऐसी उस देवी के प्रति हम विनत हैं। वह हमारी रक्षा करे। वह नित्या भगवती इन भावों के रूप में हमारे हृदय में सदा विराजित रहे॥ ४-६

1.आषाढशुदि पूर्णायां, प्रवृत्तोऽयं पुरोदयात्। ब्राह्मे कालेऽर्प्यते मात्रे, व्याख्यांशः श्रद्धया मया॥

आषाढ शुक्ल पूर्णिमा, २४.७.२००२ का सूर्योदय होने से पूर्व ब्राह्म मुहूर्त में ४:४० पर श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श (संस्कृत ग्रन्थ) के इस भाग का प्रारम्भ हुआ है। मैं इसे श्रद्धापूर्वक भगवती जगदम्बा को अर्पित कर रहा हूँ।

(प्रवृत्तिमार्गो भगवत्येव)

प्रवाहनित्यो लोकोऽयं त्रिगुणाऽस्य च कारणम्।
माया निर्माति लोकांश्च मिमीते यच्च तानियम्॥ ७
अत्र प्रकाशिता चिद्वै ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका।
प्रकाशवृत्तिसंरोधैर्व्याप्ता सा सीमिताऽभवत्॥ ८
अव्याकृता परा शक्तिर्व्याकृता सा त्रिदेविका।
परा शक्तिर्हृदिस्था स्याद् ब्रह्मा विष्णुः शिवश्च मे॥ ९
कर्ममार्गः समस्तोऽपि स्वाहास्वधाऽऽदिरूपकः।
त्रैगुण्यं भजते सोऽपि गुणभेदप्रवर्तिते॥ १०

यह जगत् नदीप्रवाह के समान निरन्तर चलता रहता है, अतः नित्य है। इसके मूल में रजस्, सत्त्व और तमो गुणों के रूप में भगवती है। यह माया है, क्योंकि यह (क) इन्द्रियगोचर सब पदार्थों के निर्माण में उपादान कारण है और (ख) इन्द्रियरूप प्रमाणों के द्वारा विषयों की प्रमाता भी यही है। इन तीन गुणों में प्रकाशित चित् ही क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव है। यह चैतन्य जगत् के प्रादुर्भाव (सृष्टि), चलते रहना (विकास) और विलय से व्याप्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामों की मर्यादा में आबद्ध हो जाता है। साम्यावस्था में विद्यमान गुणों के रूप में वह भेदात्मक जगत् के रूप में व्यक्त न होने से परा प्रकृति शक्ति है और गुण जब विषमावस्था में आते हैं, तब उनमें प्रकाशित चैतन्य के कारण वह तीन देवों के रूप में (सांख्योक्त त्रिविध अहंकार के रूप में) अभिहित होती है। वह पराशक्ति और ब्रह्मा, विष्णु और शिव मेरे हृदय में स्थित होवें। 'स्वाहा' शब्द से सम्पादित होने वाले देवलोक की और 'स्वधा' शब्द से सम्पादित पितृलोक की तृप्ति करने वाले होम, देवपूजा और श्राद्ध, तर्पण आदि कर्मकाण्ड की और इनसे उपलक्षित अन्य कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति भी गुणों के भेद के आधार पर होती है। ये सब भी सात्त्विक, राजस एवं तामस भेद से तीन प्रकार के होते हैं॥ ७-१०

(निवृत्तिमार्गोऽपि सैव)

सर्वभेदनिरासो यः परमाद्वैतलक्षणः।
ज्ञानमार्गोऽपि सोऽयं ते महिमानं समाश्रितः॥ ११
देशकालावनन्तौ हि वेदोऽनन्तस्त्रिकालजः।
परा विद्याऽनुभूतेर्हि विषयो न श्रुतेः स्मृतेः॥ १२
न प्रमाता प्रमेयं वा प्रमाणं वाऽस्य सम्भवेत्।
निस्त्रैगुण्यस्य मार्गोऽयं स्वानुभूतेस्तु गोचरः॥ १३

यह तो हुई भेदमय जगत् की, प्रवृत्तिमार्ग की बात। जिसमें सब भेद समाप्त हो जाते हैं, जो सर्वत्र एक अद्वितीय तत्त्व को ही लक्षित करता है, वह ज्ञानमार्ग भी हे देवी, तुम्हारी महिमा पर ही आश्रित है। लोक (व्यक्त जगत्) से भिन्न अलोक (इन्द्रियातीत) का ज्ञान कराने वाली विद्या का सिर्फ अनुभव किया जा सकता है। वह न श्रुति का विषय है और न स्मृति का। अर्थात् शब्द का विषय नहीं है। इस परम ज्ञान को न कोई प्रमाणों से जानने वाला है, न यह प्रमाण से जाना जा सकता है और न इसका ज्ञान कराने में कोई प्रमाण ही समर्थ है। तीन गुणों से ऊपर के इस मार्ग का केवल स्वयम् अनुभव किया जा सकता है॥ ११-१३

(वेदोऽनन्तो भगवत्येव)

शब्दप्रकाशरीतिर्या ऋग्यजुःसामलक्षणा।
प्रवाहनित्या साऽप्येवं वर्तसे त्वं पराम्बिके॥ १४

(१) ऋचा, (२) यजुः, (३) साम के रूप में शब्द के प्रकाशित होने की जो रीति है, वह भी नित्य निरन्तर बहती रहने से नदीप्रवाह के समान नित्य है। इनके रूप में भी देवी, तुम्हीं प्रवर्तमान हो॥ १४

(वेदस्य स्वरूपम्)

छन्दोऽनुरोधतः पादसन्तानोऽयमृगुच्यते।
यजुर्गद्यव्यवस्था च साम गीतिर्ऋचि स्थिता॥ १५
सर्वं ज्ञानं च शब्देन प्रकाश्येत न चान्यथा।
वेदो ज्ञानं च पर्यायौ बर्हणाद् ब्रह्म चापि तत्॥ १६

(१) नियत मात्राओं और अक्षरों की संख्या के चुनावरूपी अनन्त भेदों वाले छन्द की मर्यादा के अनुसार पादव्यवस्था से बात को कहना 'ऋचा' कहलाता है। (२) बहुविध कारकों और क्रिया की व्यवस्था के अनुसार वाक्य के रूप में गद्यव्यवस्था 'यजुष्' कहलाती है। (३) जिसे गाया जा सके, इस प्रकार की ऋचा 'सामन्' (छन्दोबद्ध रचना) है। सारा ज्ञान शब्द के द्वारा ही प्रकाशित होता है। इसे प्रकट करने का न कोई और साधन है और न कोई और रीति है। 'वेद' और 'ज्ञान' पर्याय शब्द हैं और यह ऋग्, यजुः तथा साम इन तीनों रूपों में ही होता है। बढ़ते रहने (वृह) के कारण ज्ञान 'ब्रह्म' भी कहलाता है। देश और काल का कोई छोर नहीं है, तो लोक में भूत, वर्तमान और भविष्य में नित्य प्रकट होने वाले वेद (ज्ञान) का भी कोई ओर-छोर नहीं होता॥ १५-१६

त्रैगुण्यविषयो वेदो लोकज्ञानं तदाश्रयम्।
ऋग्वेदादिभिराख्याभिः प्रसिद्धः संहिताऽऽत्मकः॥ १७

इति सीमित एवासौ गृह्यतेऽज्ञानिभिर्जनैः।
ईदृक्ता च न चेयत्ता क्वचिद् वेदस्य सम्भवेत्॥ १८

वेद (ज्ञान) का विषय तीन गुण हैं। यह देश और काल को आबद्ध करते हुए भी इनकी सीमाओं से ऊपर है। अनन्त वेद को अज्ञानी लोग देश, काल की सीमाओं में आबद्ध करके संहिताओं (ग्रन्थों) के रूप में ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता और अथर्ववेदसहिता नामों से जानते हैं। अर्थात् देश, काल की दृष्टि से, मात्रा और ईदृक्ता की दृष्टि से वेद की, ज्ञान की, कोई सीमा नहीं है। इसे न यह कहा जा सकता है कि इसका यही स्वरूप है, या इसकी मात्रा इतनी ही है, या इसका प्राकट्य इसी देश और काल में हुआ है॥ १७-१८

या चैषाऽप्यपरा विद्या त्रैगुण्यविषया हि सा।
'वेद' इत्येकशब्देन प्रकाश्याऽनन्तभेदिनी॥ १९
वेदप्रमाणतो वार्ता वर्तते जगतां हिते।
व्यवहारस्तु सर्वोऽयं वार्ता वेदप्रवर्तिता॥ २०

जो अपरा विद्या है, उसका विषय तीन गुणों से निर्मित यह संसार है। इसके भेद यद्यपि अनन्त हैं, तथापि इसे एक 'वेद' शब्द से कहा जाता है। लोकहित में वेद (लौकिक ज्ञान) के प्रमाण से चलने के कारण लोकव्यवहार के मार्ग को 'वार्ता' कहते हैं। इसकी प्रवृत्ति वेद (ज्ञान) से ही होती है। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ेगा, वार्ता (व्यवहार) शास्त्र भी फूलता-फलता रहेगा, इसकी नई-नई शाखाएँ फलती-फूलती रहेंगी॥ १९-२०

मतौ या धीयते मेधा सर्वशास्त्रार्थनिश्चयः।
त्रिगुणा सा भवत्येषा दुर्गा दुर्गतिनाशिनी॥ २१
ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वापि दुर्गमो भवसागरः।
तरणे तस्य नौका सा मता संगविवर्जिनाम्॥ २२
श्रीरेषा हृदये देवी मधुकैटभनाशिनः।
गौरी च पार्वती चेति कैलासगिरिवासिनः॥ २३

सब शास्त्रों के पदार्थों के मनन, चिन्तन से सम्पन्न बुद्धि में स्थापित निश्चय 'मेधा' कहलाता है और यह त्रिगुणात्मक है। यह दुर्गा ही जागतिक दुर्गतियों का विनाश करने वाली मेधा के रूप में मनुष्य में विद्यमान है। ज्ञानी और अज्ञानी, सब लोगों के लिये इस संसारसागर को पार करना कठिन है। आसक्ति से रहित लोगों के लिये यह भगवती इसे पार करने का साधन (जहाज) है। मधु और कैटभ असुरों का विनाश करने वाले विष्णु के हृदय में यह देवी श्री के रूप में विराजमान

है। कैलास पर्वत पर निवास करने वाले शिव के हृदय में निवास करने वाली पर्वतपुत्री गौरी यही भगवती है॥ २१-२३

(महिषभावस्य व्याख्या)

हसन् खेलंश्च संसारः परमां रमणीयताम्।
भजत्येष तथाऽप्यस्य महिषः सहते न ताम्॥ २४
देहदैहिकभावेषु रममाणः परश्रियम्।
आत्माधीनां चिकीर्षेच्च शान्तिं लोकस्य खण्डयन्॥ २५
महत्तामात्मनस्त्विच्छेन्महतोऽन्यांश्च मर्दयेत्।
अज्ञानस्य परा काष्ठा ह्यात्ममानिजनस्य सा॥ २६
उद्यच्चन्द्रसमज्योतिः प्रफुल्लं जनताऽऽननम्।
करालं वीक्ष्य नो तस्य भिद्यते हृदयं क्वचित्॥ २७

हँसता-खेलता यह संसार बहुत सुन्दर है। पर महिषप्रवृत्तिवाला मनुष्य इस सुन्दरता को सह नहीं पाता है। अपने शरीर और शरीर से संबद्ध पदार्थों में ही आनन्द अनुभव करने वाला यह महिषप्रवृत्ति वाला मनुष्य दूसरों की शोभा और सम्पत्ति को अपने अधीन करना चाहता है, चाहे इससे लोक की शान्ति ही भङ्ग क्यों न होती हो। ऐसा आदमी केवल अपना ही महत्त्व चाहता है— अपने से भिन्न महान् लोगों को वह जीने नहीं देता। अपने को सब कुछ मानने वाले मनुष्य के अज्ञान की यह पराकाष्ठा है। उगते हुए चन्द्रमा के समान ज्योति वाले जनता के खिले रहने वाले मुख को क्रोध से भीषण देखकर उस महिषासुर का हृदय दीर्ण क्यों नहीं होता! ॥ २४-२७

(भगवत्याः कोपप्रसादयोः फलभेदः)

दयादानावनाद्यैः सा युक्ता सत्त्वे प्रकाशिते।
भवाय सर्वलोकस्य जगतां स्थितिकारणम्॥ २८
कुपिताऽसुरवृत्तांस्तान्सर्वान्सा च विनाशयेत्।
प्रत्यक्षमेतल्लोकस्य सर्वत्राथ च सर्वदा॥ २९
नूनं सत्त्वस्वभावेषु प्रसन्नाऽभ्युदयं क्रियात्।
ते संमता जनपदे धर्मकीर्तिधनैर्युताः॥ ३०
सत्त्वस्वभाववाँल्लोकः सुकृतं कुरुते सदा।
धार्यते तेन धर्मेण सेह लोके परत्र च॥ ३१
स्मृता सत्त्वस्वभावा सा जन्तोर्भीतिं विनाशयेत्।
आत्मवृत्ते स्थितैर्नूनं स्मृता दत्ते शुभां मतिम्॥ ३२

नवधा भक्तिमार्गे तु स्थितं पातीति युज्यते।
शस्त्रपूता दिवं यान्तु शत्रवोऽपीति ते कृपा॥ ३३
दुर्वृत्तवृत्तनाशः स्यादसुरः सुरतामियात्।
अपि दुष्टस्य पुत्रस्य जननी हितमिच्छति॥ ३४

सत्त्वगुण में प्रकाशित चैतन्य वाली, दया, दान और रक्षा करना आदि गुणों वाली, वह भगवती सब लोगों के कल्याण के लिये जगत् का पालन करती है। आसुरी आचार विचार वाले लोगों पर कुपित हुई वह भगवती उन सबका विनाश कर देती है। यह सब लोग सदा और सब जगह अनुभव करते हैं। सात्त्विक स्वभाव वाले लोगों पर वह प्रसन्न रहती है और उनका अभ्युदय (धर्म्य, धर्मानुकूल इच्छाओं और धर्मानुकूल साधनों की पूर्ति) करती है। वे सात्त्विक स्वभाव से सम्पन्न लोग अपने इलाके में धर्म, यश और धन सम्पत्ति से युक्त होते हैं। सात्त्विक स्वभाव वाले लोग हमेशा अच्छे कर्म करते हैं। इस कारण इस जन्म में और अगले जन्म में भी उन्हें धर्म नष्ट होने से बचाता है। सत्त्व गुण की प्रधानता वाली वह देवी प्राणी के भय को नष्ट करती है। सदाचार में स्थित लोग जब भगवती का स्मरण करते हैं, तब वह उन्हें कल्याणकारी बुद्धि प्रदान करती है। नौ प्रकार की भक्ति के किसी भी भेद में जो स्थित है, उसकी रक्षा भगवती करे, यह तो उचित ही है, किन्तु जो देवी के प्रति शत्रुता का भाव रखते हैं, हे भगवती, आप तो उन पर भी कृपालु हैं। आपके शस्त्रों से पवित्र होकर वे भी स्वर्ग को जाएँ, यही सोचकर आप उन्हें संग्राम में मारती हैं। दुष्ट आचरण वाले लोगों के उस आचरण का नाश होवे, असुर भी सुर बन जाएँ, इस प्रकार यह जगदम्बा दुष्ट लोगों का भी हित चाहती है। माँ अपने दोषी, बिगड़ैल पुत्र का भी सदा हित ही चाहती है॥ २८-३४

(रक्षायाः प्रार्थना)

दिक्षु सर्वासु रक्ष त्वं त्रिगुणाश्रितसाधनैः।
सौम्यासौम्यस्वरूपैश्च तैरस्मान् रक्ष सर्वतः॥ ३५
चित्ते धृता च सा देवी हिनस्त्यस्माकमापदः।
वित्तर्द्धिविभवान्दत्ते दारपुत्रादिसम्पदः॥ ३६
वृद्धिं च कुरुते नित्यं, सत्त्वे चित्ते प्रकाशिते।
इति सत्त्वप्रकाशोऽयमास्थेयो भूतिमिच्छता॥ ३७
भद्रा सत्त्वप्रकाशा साऽभद्रनाशाय तामसी।
भद्रकालीत्यथ प्रोक्ता सत्यानृतस्वरूपिणी॥ ३८

हे देवि, अपने तीन गुणों पर आश्रित साधनों से तुम सब दिशाओं में

हमारी रक्षा करो और अपने शान्त और घोर स्वरूपों से सब प्रकार से, सब तरफ से हमारी रक्षा करो। हम जब उसका ध्यान करते हैं, तब वह आपत्तियों से हमारी रक्षा करती है, धन, धान्य, समृद्धि और वैभव प्रदान करती है। चित्त में जब सत्त्व गुण वृद्धि को प्राप्त होकर प्रकाशित होता है, तब वह पत्नी, पुत्र, नौकर-चाकर और सम्पदा की वृद्धि सदा करती है। कल्याण चाहने वाले मनुष्य को चाहिये कि अपने हृदय में सत्त्व गुण को प्रकाशित करने का प्रयत्न करे। इस सत्त्वगुण के प्रकाश के रूप में वह कल्याणकारिणी है। तमोगुण के प्रकाश वाली वह अभद्र का नाश करने के कारण भद्रकाली कही गई है। इस प्रकार उसका स्वरूप सत्य और अनृत उभयात्मक है॥ ३५-३८

(ग्रन्थकर्तुः प्रार्थना)

ममापि कुरुतान्नित्यं कल्याणं त्रिगुणा परा।
धर्मानुकूला मे कामा धर्म्याश्चार्था भवन्तु मे॥ ३९
मनागपि च नेच्छा मे मोक्षे त्रिगुणवर्जिते।
धर्मार्थकामसंसिद्धौ किं सुखं मोक्षतो भवेत्॥ ४०
मूढा एव तु ते लोका मोक्षयत्ना भवन्ति ये।
नारिकेलफलं स्वादु हित्वा शल्के रता यथा॥ ४१

त्रिगुणात्मिका वह पराम्बा मेरा भी सदा कल्याण करे। मेरी वही इच्छाएँ पूरी हों, और उनकी पूर्ति के लिए अपेक्षित वही साधन प्राप्त हों, जो धर्म के अनुकूल हैं। जो सत्त्व, रजस् और तमस् से रहित है, उस मोक्ष के प्रति मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है। जब धर्म, धर्मानुकूल इच्छाएँ और उनकी पूर्ति के लिये धर्मानुकूल साधन त्रिगुणा की उपासना से भली-भाँति सिद्ध होते हों, तब मोक्ष से कौन सा आनन्द प्राप्त होगा? जो लोग मोक्ष के प्रति यत्न करते हैं, वे लोग मुझे तो उसी प्रकार मोहग्रस्त लगते हैं, जिस प्रकार नारियल की स्वादु गिरी को छोड़कर जो उसका खोपड़ा चबाने में लगे रहते हैं॥ ३९-४१

(अध्यायसमाप्तितिथिः)

आषाढशुदिपूर्णायां गुरूणामाशिषा त्वयम्।
पञ्चमोऽध्याय आपूर्तिं यातः प्रातः समर्पितः॥ ४२
महिषासुरमर्दिन्याः श्रद्धया पादयुग्मके।
नाशयेन्माहिषं भावं हृदये मे स्थितं च सा॥ ४३

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे पञ्चमोऽध्यायः॥

गुरुपूर्णिमा, २०५९ वि0, २४.७.२००२ ई0 के प्रातः ६.४५ पर संस्कृत ग्रन्थ का यह अध्याय संपूर्ण हुआ। इसे महिषासुरमर्दिनी के चरणकमलों में श्रद्धा से समर्पित करता हूँ। वह मेरे हृदय में स्थित महिषभाव का विनाश करे॥ ४२-४३

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में पञ्चम अध्याय संपूर्ण हुआ॥

षष्ठोऽध्यायः

(मङ्गलम्)

तमःसत्त्वे विनीयाथ रजस्तत्त्वं प्रवर्तते।
नित्यं सरणरूपां तामहं नौमि सरस्वतीम्॥ १
आषाढशुक्लपूर्णायां बुधे प्रातः समारभे।
उत्तमस्य चरित्रस्य व्याख्यानं त्रिगुणां स्मरन्॥ २
महतो यत्प्रवृत्तेयं यथा गङ्गा हिमालयात्।
प्रवाहनित्यरूपां तां वन्दे महासरस्वतीम्॥ ३

तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण अपना कार्य करने में जब प्रवृत्त होता है, तब जो सदा प्रवाहशील रहने वाली है, उस सरस्वती को मैं प्रणाम करता हूँ। आषाढ शुदि पूर्णिमा बुधवार के सबेरे (७.४५ पर) भगवती त्रिगुणा का स्मरण करता हुआ मैं शिवनारायण शास्त्री (संस्कृत ग्रन्थ में) भगवती के उत्तम चरित्र की व्याख्या कर रहा हूँ। तीन गुण जब अपनी साम्यावस्था को छोड़कर विषमावस्था में आने को प्रवृत्त होते हैं, तब वैषम्यप्राप्ति के पूर्व उनमें जो क्षोभ होता है, उसे सांख्यशास्त्र में महत् नाम दिया गया है। गुणों की इस महत् अवस्थाविशेष के पश्चात् सत्त्व, रजस् और तमस् गुण की प्रधानता होने पर जब वैषम्य परिपूर्ण हो जाता है, तब महत् अवस्था के पश्चात् होने वाली इस अमुक-अमुक गुणों की प्रधानता की स्थिति को त्रिविध अहंकार कहा जाता है।

इस त्रिविध अहंकार की प्रवृत्ति महत् अवस्था से उसी प्रकार होती है, जैसे हिमालय से गंगा आदि नदियों की प्रवृत्ति होती है। उनमें से जो नदीप्रवाह के समान नित्य निरन्तर जगत् के रूप में बहती रहती है, ऐसी भगवती महासरस्वती की मैं शिवनारायणशास्त्री वन्दना करता हूँ॥ १-३

('रजस्'- शब्दस्य व्याख्या)

रेफो गतावकारश्च स्थितौ जश्च जनौ मतः।

सकारोऽस्तित्वमाख्याति, रजसो लक्षणं त्विदम्॥ ४

'र्' ध्वनि मुख्यतः गति को प्रकट करती है। 'ज' वर्ण उत्पत्ति, अर्थात प्रादुर्भाव, प्राकट्य को कहता है। 'स्' वर्ण अस्तित्व, सत्ता, अविनाश को प्रकट करता है। इस प्रकार 'रजस्' शब्द (क) गति के अनुकूल स्थिति (विकास) और (ख) उत्पत्ति के अनुकूल अस्तित्त्व इन दो भावों को प्रकट करता है॥ ४

(महासरस्वत्या ध्यानम्)

घण्टाशूलहलानि शङ्खमुसले चक्रं धनुः सायकं,
हस्ताब्जैर्दधतीं घनान्तविलसच्छीतांशुतुल्यप्रभाम्।
गौरीदेहसमुद्भवां त्रिजगतामाधारभूतां महा -
पूर्वामत्र सरस्वतीमनुभजे शुम्भादिदैत्यार्दिनीम्॥ ५

अमुकनामा मैं शुम्भ आदि दैत्यों का विनाश करने वाली महासरस्वती की शरण में उपस्थित होता हूँ। इन जगदम्बा ने अपने कमल के समान कोमल और सुन्दर आठ हाथों में १. घण्टा, २. भाला, ३. शंख, ४. हल, ५. मुसल, ६. चक्र, ७. धनुष् और ८. बाण को धारण कर रखा है। उनके देह की कान्ति बादलों के छोर पर झाँकते चन्द्र की कान्ति के समान है।

ये महासरस्वती सर्वाङ्गशुक्ल भगवती गौरी के देह से प्रकट हुई हैं और तीनों लोकों का आधार हैं, शुम्भ और उस जैसे उसके अनुयायी दैत्यों का मर्दन करती हैं। इन्हें आदरवश 'महासरस्वती' शब्द से कहा जाता है॥ ५

(महासरस्वत्या ध्यानस्य व्याख्या)

रजःप्रधानं चैतन्यं ब्रह्मा सृष्टेः पितामहः।
चिद्युक्तं च रजस्तत्त्वं सरस्वतीति भाष्यते॥ ६
अष्टावस्या भुजाः प्रोक्ताः, चन्द्रज्योत्स्नासमप्रभा।
लोकालोकाचलान्तःस्थजगतामाश्रयः परा॥ ७
शब्दप्रकाशितो योऽर्थो घण्टाशब्दोऽथ वक्ति तम्।
वेदस्तस्य च पर्यायो हलं कृष्यादिसाधनम्॥ ८
शङ्खः शान्तिं प्रयच्छद्वै ज्ञानं खं ब्रह्मसंविदा।
कलाविज्ञानशिल्पादि शङ्खशब्देन सूच्यते॥ ९
मुसलं तच्च यद्धन्ति निस्सारं वस्तुतः परम्।
सत्त्वस्वभावमापन्नविष्णोर्यत्तत्सुदर्शनम्॥ १०
कालश्चक्रं च तद्वक्ता ऋषिर्दीर्घतमाः श्रुतौ।

कालप्रवाहनित्येयं महादेवी सरस्वती ॥ ११

रजो गुण की प्रधानता वाला यह चैतन्य (ब्रह्मा) सृष्टि का पितामह (आदिकारण) कहलाता है और चैतन्य से युक्त रजस् तत्त्व को 'सरस्वती' कहा जाता है। इस महासरस्वती के आठ भुजाएँ बताई हैं। इसका वर्ण चन्द्र के समान गौर है। ये लोक (इन्द्रियों के विषय जगत्) और अलोक (जगत् के बाहर, इन्द्रियातीत) इन दोनों के मध्य स्थित समस्त जगत् का परम आश्रय हैं। शब्द से प्रकाशित होने वाला जो अर्थ है, उसे 'घण्टा' शब्द कहता है। इस 'घण्टा' का तात्पर्य 'वेद' (शब्द से प्रकाशित समस्त ज्ञान) शब्द है। 'हल' कृषि आदि कार्यों का साधन है और यह उत्पादन के समस्त साधनों (यंत्रों, मशीनों) का उपलक्षक है। 'शंख' शब्द 'शम्' और 'ख' शब्द के योग से बना है और यह पर और अपर ब्रह्म के शान्ति प्रदान करने वाले ज्ञान को प्रकट करता है। लौकिक दृष्टि से 'शंख' शब्द से कलाएँ, विज्ञान और विविध शिल्प अभिप्रेत हैं।

'मुसल' से वह वस्तु अभिप्रेत है, जो वस्तु से सारहीन छिलके आदि को छड़-कूटकर दूर कर देती है। यह कच्चे सामान से उपयोगी सामान बनाने वाले उद्योग-धन्धों के साधनों का प्रतीक है। सत्त्वगुण में प्रकट हुए चेतन तत्त्व रूप विष्णु का जो सुदर्शन चक्र है, वह काल है और वही यहाँ 'चक्र' शब्द से कहा गया है। ममतापुत्र दीर्घतमस् ऋषि ने ऋग्वेदसंहिता के 'अस्यवामीय' (1.164) सूक्त में इस कालचक्र का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। काल का प्रवाह वस्तुतः भेदरहित है। देश में वर्तमान वस्तुओं को दृष्टि में रखकर उनके आधार पर काल के भूत, वर्तमान और भविष्यद् भेद होते हैं। उसी तरह यह महासरस्वती वस्तुतः प्रवाह के समान निरन्तर गतिशील और विकासधर्मा है। गति और विकास के नाना स्तरों का भेद होते हुए भी यह स्वतः भेदरहित है॥ ६-११

('क्लीं' बीजमन्त्रस्य व्याख्या)[1]

इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति त्रयम्।
क्रियाज्ञाने समाख्याते इच्छाशक्तिर्विविच्यते॥ १२
'क्लीं' इच्छेति च कामेति बीजं वक्ति सरस्वतीम्।
ककारः कण्ठसम्भूतो व्यञ्जनं च स्वराश्रयम्॥ १३
व्यक्तेरादिमरूपं तत्तस्मात् कोऽयं प्रजापतिः।

1. श्रावणारम्भघस्त्रेऽहं गुरौ पूर्वाह्ण आरभे। दुर्गातत्त्वविमर्शस्य भागमेतं नतः पराम्॥ श्रावण बदि प्रतिपदा, गुरुवार, के पूर्वाह्ण में दुर्गातत्त्वविमर्श (संस्कृतग्रन्थ) के इस भाग का प्रारम्भ पराम्बा को प्रणत मैं शिवनारायण शास्त्री कर रहा हूँ।

लकारो लयमाख्याति ईकारो गतिमेव च॥ १४
एतेषां सङ्गतिं बिन्दुरथाख्याति च चेतने।
उत्तमस्य चरित्रस्य 'क्लीं' बीजं प्रोच्यते बुधैः॥ १५

जगत् में तीन शक्तियाँ कार्य करती हैं – १. इच्छाशक्ति, २. क्रियाशक्ति, ३. ज्ञानशक्ति। क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का वर्णन महाकाली और महालक्ष्मी के चरित्रों में किया जा चुका है। अब उत्तम चरित्र में इच्छाशक्ति का विवेचन किया जा रहा है। 'क्लीं' बीजमन्त्र इच्छाबीज, कामबीज है और यह महासरस्वती का अभिधायक है। इसका आदिम वर्ण 'क्' सब स्थानों में आदिम कण्ठ स्थान में प्रकट होता है और यह स्वर के आश्रय के बिना उच्चरित नहीं हो सकता, अतः व्यञ्जन है। 'अ' वर्ण भी कण्ठसम्भूत है और स्वरों में प्रथम है। इस प्रकार वर्णों के उच्चारणस्थानों में प्रथम व्यञ्जन 'क्' और स्वर 'अ' के संयोग से निष्पन्न 'क' शब्द त्रिगुणों की व्यक्तता के आदिम रूप प्रजापति ब्रह्मा का वाचक है। 'क्लीं' बीजाक्षर में 'क्' के पश्चात् उच्चारित 'ल्' वर्ण अपने उच्चारणस्थान दन्तों को हल्के से स्पर्श करने वाली अल्पप्राण ध्वनि है और यह वर्ण इसी कारण लयभाव को प्रकट करता है। इसके बाद उच्चरित दीर्घ 'ई' गति को प्रकट करता है। इन सबके अन्त में उच्चरित अनुस्वार चैतन्य में इन सबकी संगति को प्रकट करता है। इस प्रकार जिसमें इच्छाएँ लीन होकर संगत (पुञ्जीभूत) हो गई है, वह जगत् की उत्पत्ति और विकास करने वाली महाशक्ति महासरस्वती कामबीज 'क्लीं' से व्यक्त होती है। इसीलिये उत्तम चरित्र का बीजमन्त्र विद्वानों द्वारा 'क्लीं' शब्द से कहा गया है॥ १२–१५

(शुम्भस्यार्थः)

'शुम्भों' नामासुरः प्रोक्तः, 'सुम्भों' वा वर्तनिद्वयम्।
शुम्भिः शोभामथ प्राह, सुम्भिश्च हिंसने मतः॥ १६

श्रीदुर्गासप्तशती में वर्णित 'शुम्भ' असुर की एक और वर्तनी 'सुम्भ' भी लोक में उपलब्ध होती है। इन दोनों वर्तनियों से इस असुर के चरित्र के दो रूप प्रकाशित होते हैं, ज़ो श्रीदुर्गासप्तशती के वर्णन से पुष्ट भी होते हैं— (क) 'शुम्भ' शब्द शोभार्थक 'शुम्भ्' धातु से निष्पन्न है और (ख) दन्त्यादि 'सुम्भ' शब्द हिंसार्थक 'सुम्भ्' धातु से॥ १६

शोभायुक्तं समस्तं यत् तत् सर्वं मद्गतं भवेत्।
एकाधिकारसम्पन्नो राजा मदबलाश्रयात्॥ १७
सूर्यचन्द्रयमानां च कौबेरं वारुणं तथा।

वायोरग्रेस्तथा ऋद्धौ सर्वत्रैवाधिकारवान्॥ १८

अपनी धनसत्ता, जनसत्ता और बलसत्ता से मदमत्त होकर जो मनुष्य संसार की सब उत्तम वस्तुओं पर अपना एकाधिकार चाहता है, 'जगत् में जो भी कोई वस्तु सुन्दर है, अच्छी है, वह उसके पास होवे', यह चाहता है, वह मनुष्य 'शुम्भ' असुर है। ऐसा मनुष्य सूर्य और चन्द्रमा की गतियों से नियन्त्रित सारे संसार पर अपना ही एकाधिकार समझता है। वह धनशक्ति के प्रतीक कुबेर, वैदिक वाङ्मय में जगत् की मर्यादित व्यवस्था के अधिपति के रूप में और पुराणसाहित्य में समुद्रों के, देशदेशान्तरों से वाणिज्यव्यापार के, अधिकारी वरुण की, लोगों के श्वासोच्छ्वास की स्वतंत्रता के अधिपति वायु की और भूमण्डल के एकमात्र देवता, मनुष्य का देवों से सम्बन्ध जोड़ने वाले और प्राणिशरीर में आहार का परिपाक करने वाले वैश्वानर अग्नि की ऋद्धियों, अर्थात् जगत् की सर्वविध शक्तियों पर सर्वत्र अपना ही एकाधिकार जमाना चाहता है॥ १७-१८

जगत्यां यानि रत्नानि तानि सर्वाणि मे गृहे।
भवेयुः प्रीतितो वश्यान्यशेषाणीत्यभावयत्॥ १९
शुम्भेरर्थोऽयमस्त्यत्र, सुम्भेश्चापि च दृश्यताम्।
बलाद्वा हिंसनाद्वापि रत्नं भवतु मे गृहे॥ २०

जगत् में जो भी उत्तम वस्तु हैं, वे सब मेरे घर में (क) अपनी राजी से होनी चाहिएँ, यह तालव्य ऊष्म वाली शोभार्थक 'शुम्भ्' धातु का अर्थ है। अब (ख) दन्त्योष्म वर्ण वाली हिंसार्थक 'सुम्भ्' धातु वाले 'सुम्भ' नाम का तात्पर्य भी देखिये — जगत् के सब उत्तम पदार्थ स्वेच्छा से, समझाने-बुझाने से, अगर मेरी अधीनता स्वीकार नहीं करते हैं, तो उन्हें जबर्दस्ती अपमानित करके, मार-पीट करके, घसीटकर मेरे यहाँ ले आओ। बस यह उत्तम पदार्थ, जैसे भी हो, मेरे अधीन होना चाहिये। जो मनुष्य यह सोचकर कार्य करता है, वह 'सुम्भ' होता है॥ १९-२०

(शुम्भसहायका भावाः)

तत्रास्य परमोद्युक्तः सहायो योऽनुजस्तु सः।
अस्यापि द्वे च वर्तन्यौ, व्यंक्तः स्वभावमस्य ते॥ २१
निशुम्भोऽत्यन्तमात्मीयो भ्राता तेनायमुच्यते।
निशुम्भो वा निषुम्भो वा देहदैहिककामतः॥ २२

शुम्भ की जो सहायक वृत्तियाँ होती है, श्रीदुर्गासप्तशती में बताई उन सब वृत्तियाँ की व्याख्या कर रहा हूँ :

(१) निशुम्भ उस वृति वाले मनुष्य को कहा जाता है, जो 'शुम्भ' का

सबसे अधिक निकटवर्ती सहायक होता है। इसलिये उसे 'शुम्भ' का छोटा भाई कहा गया है। यह श्रीदुर्गासप्तशती कथा में 'शुम्भ' का सर्वाधिक अनुगामी, निकटतम सहायक है। उसे आसुरी स्वभाव में निकटतम होने के कारण 'शुम्भ' का अनुज बताया है। जितना अधिक निकटता से रागवान् होकर जो मनुष्य किसी के शुभ, अशुभ कर्मों में सहायक होता है, उसका पापपुण्यकर्ता से फलभोग के लिये उतना ही निकटता का रिश्ता बनता है। 'निशुम्भ' की भी दो वर्तनियाँ (क) 'निशुम्भ', (ख) 'निषुम्भ' हैं। देह-दैहिक भोगों में आसक्ति के कारण 'निशुम्भ' अथवा 'निषुम्भ' भी असुर है॥ २१-२२

असुरोऽयमिति प्रोक्तश्चण्डमुण्डौ सहायकौ।
चण्डः कबन्ध इत्येष क्षात्रवैश्यौ च शूद्रकाः॥ २३
समाजपुरुषे मुण्डो मूर्धा यो विप्रनामकः।
चण्डो मुण्डश्च भृत्यौ तौ राज्ञोः शुम्भनिशुम्भयोः॥ २४
बलेन चक्रे चण्डस्तु मुण्डश्चक्रे च बुद्धितः।
स्त्रीरत्नाहरणं कार्यं प्रियं शुम्भनिशुम्भयोः॥ २५

(२) चण्ड, (३) मुण्ड — समाजरूपी पुरुष में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रूपी जो कबन्ध भाग (धड़) है, वही इस कथा में 'चण्ड' है और ब्राह्मणरूपी जो शीर्ष भाग है, वही 'मुण्ड' है। अर्थात 'शुम्भ' और 'निशुम्भ' वृत्ति वाले सत्ताधीशों की धर्मविरुद्ध कामनाओं की पूर्ति में समाज के ये दो वर्ग अगर सहायक होते हैं, तो वे भय अथवा किसी स्वार्थ से ही ऐसा करते हैं, अतः वे भी असुर हैं और शुम्भ एवं निशुम्भ के अधीन काम करने से उनके भृत्य हैं। 'चण्ड' अपने शारीर, आर्थिक और शिल्प कला तथा अन्यविध कौशल के बल से 'शुम्भ' की सहायता करता है, जब कि 'मुण्ड', अर्थात् शुम्भ और निशुम्भ की अनुचित वासनाओं की पूर्ति में लगा बुद्धिजीवी वर्ग, बुद्धि के द्वारा उनका सहायक होता है। ये दोनों वर्ग सब उत्तम वस्तुओं को शुम्भ, निशुम्भ के निमित्त कल, बल और छल से जुटाने में सहायक बनकर उनकी सेवा करते हैं॥ २३-२५

सुग्रीवस्तस्य दूतश्च सुकण्ठः श्लक्ष्णया गिरा।
रत्नं यथा समभ्येति तथा स कुरुते लघु॥ २६
सुग्रीवो 'दूत' इत्युक्तः स कामसचिवोऽस्य वै।
सामवृत्तिं समास्थाय दण्डं चापि प्रदर्शयन्॥ २७

(४) सुग्रीव— शुम्भ का अगला सहायक है 'सुग्रीव' नामक दूत।

'सुग्रीव' का अर्थ सुकण्ठ होता है। यह शुम्भ का नर्मसचिव (कामपुरुषार्थ की सिद्धि में दाहिना हाथ) है। चण्ड, मुण्ड द्वारा किसी सुन्दर स्त्री को देखे जाने की सूचना मिलने पर शुम्भ ने सुग्रीव को उस स्त्री को समझा-बुझा कर लाने के लिये दूत के रूप में भेजा। श्रीदुर्गासप्तशती में सुग्रीव को दूत बताया गया है। उसने मीठी-मीठी बातों से यह समझाने का प्रयास किया कि वह सुन्दरी शुम्भ के महल की शोभा बढ़ाने को राजी हो जाए॥ २६-२७

(शुम्भत्वकारका अन्ये दोषाः)

वृत्तयो यास्तथाऽन्याश्च शुम्भत्वे कारणं मताः।
व्याख्यामि ताः समस्तास्तु दुर्गासप्तशतीगताः॥ २८
एतच्चतुष्टयादन्ये सकुलाः सप्त चाभवन्।
कम्बूधौम्रासुरा दैत्या विंशतिश्च शतत्रयम्॥ २९
कालका दौर्हृदा मौर्याः कालकेयाह्वयाश्च ते।
युद्धाय सज्जा निर्याताः शुम्भस्याज्ञाऽनुवर्तिनः॥ ३०
चत्वारोऽन्ये सहायाश्च सप्तैते ह्यसुराः पराः।
'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्' ॥ ३१
यदा प्रमत्ता जायन्ते सप्तैतेऽसुरसंज्ञकाः।
सत्त्ववृत्तौ स्थिताश्चैते सप्तर्षय इतीरिताः॥ ३२
असुरा नाशयन्त्येतं ऋषयोऽस्य च रक्षकाः।
विविच्यन्ते क्रमेणैते यथामति शिवेन वै॥ ३३
मननं तस्य वै कार्यं सुसमाहितचेतसा।
तत्त्वं बोद्धुं तु जीवस्य कथायाः श्रवणं हितम्॥ ३४

शुम्भ के इन चार सहायकों के अतिरिक्त १ कम्बू, २ धौम्र और ३ अन्य दैत्यों और असुरों के ३२० कुल, ४ कालक, ५ दौर्हृद, ६ मौर्य, ७ कालकेय नामक असुरकुल शुम्भ के सहायक बताए हैं। ये सब शुम्भ की आज्ञा पाकर युद्ध के लिये निकल पड़े। हमारे विचार में ये सब वही हैं, जिन्हें वाजसनेयसंहिता (34.55) में 'सात ऋषि' कहा गया है। शरीर में सात ऋषि स्थित हैं, जो अपने अधिष्ठान अर्थात् शरीर की रक्षा (सेवा) बिना कोई प्रमाद किये करते हैं। इन सात ऋषियों की व्याख्या यास्काचार्य ने निरुक्त (12.37) में सिर में स्थित सात प्राण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि) की है। ये सात्त्विक और राजस वृत्ति वालों के

लिए तो ऋषि हैं, पर तमोवृत्तिवाले, देहगेहाभिमानी, मोहग्रस्त लोगों के लिये देहगेहसुखों में ही आसक्त करके उन्हें पतन की ओर ले जाने के कारण असुर हैं। इनकी इस द्विविधता का विवेचन मैं शिवनारायण शास्त्री यथामति कर रहा हूँ। इस का मनन अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर करें। जीवन के तत्त्व को समझने के लिये कथा सुनना हितकारी होता है॥ २८-३४

(शुम्भत्वकारिके द्वे प्रवृत्ती)

शुम्भवृत्तेर्मनुष्यस्य सहायावपरौ तथा।
धूम्राक्षो रक्तबीजश्च बलवन्तावुभावपि॥ ३५
धूम्रं नाम तु मोहादिरक्षाणीन्द्रियसंहतिः।
धूम्राक्षोऽसुरराट् सोऽयं शुम्भस्तेन जनो भवेत्॥ ३६

शुम्भस्वभाव वाले मनुष्य के दो और बड़े सहायक हैं —

१. धूम्राक्ष - 'धूम्राक्ष' शब्द 'धूम्र' और 'अक्ष' के योग (बहुव्रीहि समास) से बना है: जिसके अक्ष धूम्र हैं। 'धूम्र' शब्द धूएँ का, मलिनता का वाचक है। 'अक्ष' शब्द विषयों की अभिव्यक्ति के करण इन्द्रियों का वाचक है। जिसकी इन्द्रियाँ (ज्ञान के साधन) मलिन, अज्ञानावृत, मोहग्रस्त हैं, वह मनुष्य धूम्राक्ष है। इन्द्रियाँ जड़ हैं। स्वयं तो, मन से संयोग हुए बिना तो, ये अपने विषय रूपादि का अनुभव करने में भी समर्थ नहीं हैं। अतः 'धूम्राक्ष' से इन्द्रियों के रूपादि विषयों के प्रति धूमिल, दूषित, वृत्ति से युक्त मन वाला मनुष्य अभिप्रेत है। इन्द्रिय, मन और उसका स्वामी देहाभिमानी जीव केवल अपने सुखों के, अपने लाभ के, प्रति सचेष्ट और सचेतन होता है। अतः वह असुर है। सारे आसुर भावों का प्रारम्भ विषयों के प्रति मन के दूषित होने से ही होता है। अतः 'धूम्राक्ष' मनुष्य असुरराज है। विषयों के प्रति मनोवृत्ति के दूषित होने से ही मनुष्य धूम्र-विलोचन शुम्भ बनता है॥ ३५-३६

धूमेष्विन्द्रियवृत्तेषु मनो दुष्यति मानुजम्।
रक्तबीज इति प्रोक्तं संकल्पबहुलं मनः॥ ३७
जलानां वारिधिः पात्रं कामानां मानसं तथा।
भिज्जं बिज्जं च बीजं च बीजानि स्युश्च बीजतः॥ ३८
लोके यथा तथा चित्ते कामात् कामोऽभिजायते।
तत्रेदं रूपकं प्रोक्तं कथासूत्रस्य वृद्धये॥ ३९

२. रक्तबीज — इस प्रकार दूषित मन को ही 'रक्तबीज' नामक असुर

कहा गया है। मन का स्वभाव होता है संकल्प पर संकल्प करते जाना। जिस प्रकार जल का सबसे बड़ा अधिष्ठान समुद्र होता है, चाहे वह वैदिक भाषा में अन्तरिक्ष होवे, या लौकिक भाषा में भूमण्डल पर स्थित सागर, वैसे ही कामनाओं, इच्छाओं, संकल्पों का सबसे बड़ा अधिष्ठान मन होता है। 'बीज' शब्द मूलतः 'भिद् + जन्' धातुओं के योग से निष्पन्न 'भिज्ज' है। क्योंकि जल, वायु के सम्पर्क से जब किसी पिण्ड का आवरण नरम पड़ जाता है, तब उस पिण्ड के गर्भ में स्थित उत्पादकता शक्ति अग्नि (ताप) और वायु के सम्पर्क से आवरणभङ्ग करके उद्भूत हो जाती है। अतः भेदन के पश्चात् प्रादुर्भूत इस पिण्ड को 'भिज्ज' कहते हैं। 'भिज्ज' शब्द जनसाधारण के बोलने में प्राकृत प्रवृत्ति से 'बिज्ज' होकर 'बीज' हो गया है। इस बीज में अन्य अनेक बीजों को उत्पन्न करने की शक्ति निहित होती है। मन में भी एक संकल्प के बाद एकेक करके अनन्त संकल्प उत्पन्न होते जाते हैं। यही कारण है कि मनुष्य की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। श्रीदुर्गासप्तशती में कथा का सूत्र आगे बढ़ाने के लिए 'रक्तबीज' का यह रूपक दिया है॥ ३७–३९

यावन्तः पतितास्तस्य शरीराद्रक्तबिन्दवः।
तावन्तः पुरुषा जातास्तद्वीर्यबलविक्रमाः॥ ४०

'रक्तबीज' नामक इस असुर की एक विशेषता थी, इसके शरीर से खून की जो भी बूँदें गिरें, उन सब से उसी मूल रक्तबीज के उत्साह, बल और कार्यो की क्षमता वाले असुर उत्पन्न हो जाते थे। मन की भी यही स्थिति है। मन में एक संकल्प उत्पन्न होता है, तो (क) अगर वह पूरा हो जाता है तो लोभ, मोह, मद और मात्सर्य भावों के कारण नाना संकल्प उत्पन्न हो जाते हैं, (ख) अगर वह संकल्प पूरा नहीं होता, तो क्रोध या कुण्ठा, निराशा के कारण नाना संकल्प उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोनों ही स्थितियों में उत्पन्न संकल्पों से भी पुनः उसी प्रकार नाना संकल्प उत्पन्न होते जाते हैं। इनकी इयत्ता का निर्धारण कर पाना कठिन है। मन की इस बहिर्मुखता के चलते मनुष्य स्वयं को असहाय अनुभव करता है॥४०

(रूपकस्योपसंहारः)

धूम्राक्षसुसहायस्य रक्तबीजपतेस्तथा।
कामाधीनविवेकस्य शुम्भत्वं निश्चितं भवेत्॥ ४१
एवं दूषितवृत्तीनामसुरत्वं सुनिश्चितम्।
यत्नं शमार्थिनः कुर्युस्तस्मादस्य नियन्त्रणे॥ ४२

दूषित वृत्तियों वाले आसुरी स्वभाव के लोग जिनके सहायक हों, अथवा जिनकी वृत्तियाँ दूषित हो गई हों, जिनका मन और विवेक इच्छाओं के अधीन हो

गया हो, ऐसे लोग अवश्य ही शुम्भ/सुम्भ बन जायेंगे। जिनका स्वभाव इस प्रकार की मनोवृत्तियों से दूषित हो गया हो, ऐसे मनुष्यों का असुर बनना तय है। इसलिये शान्ति चाहने वाले लोगों को चाहिये कि वे मन की वृत्तियों को दूषित होने से बचाएँ और नित-नई उठती इच्छाओं को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करें।।४१-४२

ईदृशा असुरा लोके यदा तत्र समुन्नताः।
हृताधिकारा वै लोकाः संश्रयन्ति पराम्बिकाम्॥ ४३
अन्याश्रयमपश्यन्तश्चेतनामात्मनि स्थिताम्।
शरणं ते ययुस्तत्र पराम्बां भयहारिणीम्॥ ४४
यस्य देवस्य यद्रूपं यथाभूषणवाहनम्।
तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान्योद्धुमाययौ॥ ४५

इस प्रकार की आसुरी वृत्तियों वाले लोग लोक में जब उन्नति प्राप्त करते हैं, तथा लोगों के अधिकार छिन जाते हैं, तब वे दैवी शक्तियों का आश्रय लेते हैं और कोई आसरा न देख पाते हुए लोग अपने अन्दर स्थित चेतना का आश्रय लेते हैं और इस प्रकार भगवती त्रिगुणाम्बा की शरण जाते हैं। ऐसे लोगों की सहायता और रक्षा करने के लिये समस्त दैवी शक्तियाँ और वृत्तियाँ अपना-अपना स्वरूप धारण करके असुरों से युद्ध करने के लिये उठ खड़ी होती हैं॥ ४३-४५

दैवीं वृत्तिं समास्थाय धूम्राक्षे चण्डमुण्डयोः।
रक्तबीजे च नष्टेषु निशुम्भो वध्यते ध्रुवम्॥ ४६
एवमासुरवृत्तीनां विनाशो जायते यदा।
कामादिदुष्टवृत्तीनां विनाशे शुम्भनाशनम्॥ ४७

दैवी वृत्तियों का सहारा लेकर धूम्राक्ष, चण्ड, मुण्ड और रक्तबीज जैसे असुरों का जब नाश हो जाता है, तब निशुम्भ का भी विनाश निश्चित ही हो जाता है। इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, राग, द्वेष आदि दोष जब नष्ट हो जाते हैं, तब इनके आश्रय पर पनपने वाली अहंकाररूप शुम्भ वृत्ति का भी विनाश हो जाता है॥ ४६-४७

(शुम्भवृत्तेर्नाशे लाभः)

ततः प्रसन्नमखिलं हते तस्मिन् दुरात्मनि।
जगत्स्वास्थ्यमतीवाप निर्मलं चाभवन्नभः॥ ४८
क्षेममार्गेण वाहिन्यः समस्ता लोकवृत्तयः।

देववृत्तिस्तदा लोको हर्षनिर्भरमानसः॥ ४९
सर्वत्र शान्तिः परमा जायते सर्वमानसे।
अध्यात्मभूतदेवेषु शान्तिः सर्वत्र जायते॥
शान्तिः सर्वत्र जायते॥ ५०

इस दुष्टवृत्ति (अभिमान, स्वार्थपरायणता) का नाश होने पर जगत् अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और समस्त वातावरण, धरती और आकाश निर्मल हो जाता है। लोगों की मनोवृत्तियाँ कल्याण के मार्ग पर चलने लगती हैं। दैवी वृत्तियों से युक्त लोगों का हृदय हर्ष से भर उठता है। सब लोगों के हृदय में परम शान्ति हो जाती है। सब जगह आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शान्ति छा जाती है॥ ४८-५०

(ग्रन्थकर्तुः प्रार्थना)

सैषा शान्तिर्ममापि स्याज्जगदम्बाकृपाऽऽश्रयात्।
शिशुस्तस्यास्तथाङ्केऽहं क्रीडेयं लालितस्तया॥ ५१
स्तन्यं पीतं मयाऽस्या यत्तत्स्मृतिर्न तु मुञ्चति।
अद्याप्यस्य महास्वादश्चित्ते चन्दति चेतनाम्॥ ५२

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे षष्ठोऽध्यायः॥

वह यह शान्ति मुझे भी प्राप्त होवे, क्योंकि मैंने जगदम्बा की कृपा का सहारा ले लिया है, अपने मन में उसके शिशु का भाव अपना लिया है। अब एक ही इच्छा है कि मैं उस की गोदी में शिशुवद् अठखेलियाँ करता रहूँ और वह मुझे लाड लडाए। एक बार इन माँ का दूध जो आज से २२-२३ वर्ष पूर्व पिया था, उसकी स्मृति आज भी मुझे नहीं छोड़ रही है। इस दूध का अद्भुत स्वाद स्मृतिपथ पर आकर आज भी चित्त में अद्भुत चेतना का संचार करता रहता है॥ ५१-५२

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में छठा अध्याय संपूर्ण हुआ॥

सप्तमोऽध्यायः

देवीतत्त्वमथाख्यामि यथामति विवेचितम्।
मननीयं प्रयत्नेन जनेन भूतिमिच्छता॥ १

अपनी समझ के अनुसार देवीतत्त्व की व्याख्या कर रहा हूँ। कल्याणकामी सज्जनों को चाहिये कि इसका मनन यत्न करके करें॥ १

(उत्तमचरित्रप्रतीकानां व्याख्या)

पुरा शुम्भनिशुम्भाभ्यामसुराभ्यां शचीपतेः।
त्रैलोक्यं यज्ञभागश्च हृता मदबलाश्रयात्॥ २

पीछे किसी समय शुम्भ और निशुम्भ नामक असुरों ने शची के पति इन्द्र के साम्राज्य त्रिलोकी का और यज्ञादि शुभकर्मों में उनके भागों का हरण अपनी शक्ति के मद में कर लिया॥ २

शची शक्तिरिति प्रोक्ता आत्मेन्द्रो जीवसंज्ञकः।
अध्यात्मभूतदेवी या सृष्टिस्त्रैलोक्यमीरिता॥ ३
यज्ञस्तत्कर्म वै प्रोक्तं यदभ्युदयसाधनम्।
मदोऽहंमानिता तत्र कारणं शक्तिभूतयः॥ ४
हरणं नेच्छतो जन्तोर्बलाद्रत्नस्य स्वीकृतिः।
रत्नं तत्सर्वमाख्यातं रमते यत्र मानसम्॥ ५
असन्तोषे च वित्तेषु तृष्णा तेनाभिजायते।
मय्यधीनं भवेत् सर्वं भावो मदबलाश्रये॥ ६
मनःषष्ठेन्द्रियाण्यस्य जायन्ते धूमिलानि वै।
निशुम्भो बुद्धिरित्युक्ता देहगेहाभिमानिनी॥ ७

इस रूपक में 'शची' से शक्ति, आत्मबल इष्ट है और 'इन्द्र' से 'जीव' नामक देहाधिष्ठाता आत्मा अभिप्रेत है। पाँच भूतों से निर्मित चेतन जीवरूप देवता से अधिष्ठाता बाह्य और आन्तरिक करण तथा प्राण अर्थात् इन्द्रिय, प्राण मन और बुद्धि का अधिष्ठान देह इस इन्द्र की त्रिलोकी है, जिस पर यह राज करता है। यज्ञभागों से वे कर्म इष्ट हैं, जिन्हें यह इन्द्र (जीव) अपने अभ्युदय के लिये सम्पादित करता है। शुम्भ के 'मद' का अर्थ है स्वयं को न जाने क्या-क्या समझना। इस मद का कारण अपनी समृद्धि, विविध शक्तियाँ और अपने साधनों से असन्तुष्टि होती है। 'हरण' का तात्पर्य है, दूसरा चाहे न चाहता हो, तब भी उसकी अपने को अच्छी लगने वाली वस्तु को जबर्दस्ती अपना बना लेना। इस असन्तोष के कारण मनुष्य में तृष्णा उत्पन्न हो जाती है कि सब कुछ मेरे अधीन होना चाहिये। यह भान अपनी शक्ति और मद के कारण होता है। इस रूपक में 'निशुम्भ' से शरीर को 'मैं' और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं को 'मेरा' (अपना) समझने वाली बुद्धि अभिप्रेत है। ऐसे (निशुम्भ के भाई) 'शुम्भ' की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ,

एवं मन वासना से धुँधले हो जाते हैं॥ ३-७

(सरस्वत्याः स्वरूपम्)[1]

तदा सरस्वतीं देवीं विष्णुमायां प्रतुष्टुवुः।
चैतन्योपहितं तत्त्वं रजो नाम सरस्वती॥ ८
सत्त्वोपहितचैतन्यं विष्णुरित्यभिधीयते।
निर्मीति या जगत्सर्वं मिमीतेऽथ मिमाति च॥ ९
जगद्विकारहेतुत्वान्मायेयं मोहिनी हरेः।
परोक्षप्रियदेवास्ते प्रत्यक्षद्विष एव च॥ १०
क्वचिच्छास्त्रेषु वै प्रोक्ता विष्णुपत्नी सरस्वती।
सृष्टिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्रजोमुख्या सरस्वती॥ ११
ब्रह्मपुत्रीति वै प्रोक्ता चकमे तां प्रजापतिः।
द्विधाभिधानशैलीयं रूपकं न तु वास्तवम्॥ १२

तब देवता (सात्त्विक लोग) विष्णु की माया सरस्वती की स्तुति करने लगे। चैतन्य जिसमें प्रकाशित होता है, वह 'रजस्' तत्त्व सरस्वती है। सत्त्व गुण रूप उपाधि में स्थित चैतन्य 'विष्णु' कहलाता है। यह उपाधि सारे जगत् का (क) निर्माण करती है और (ख) प्रमाणों से उसका विनिश्चय करती है। इस कारण यह विष्णु की परमैश्वर्यसम्पन्न 'माया' है। जगत् के विकास का कारण होने से इस महासरस्वती को बुद्धिमान् लोग विष्णु की मोहिनी माया भी कहते हैं। बुद्धिमान् लोग परोक्षप्रिय और प्रत्यक्षद्वेषी होते हैं। बात को अभिधा की बजाय व्यञ्जना से व्यक्त करना उन्हें प्रिय होता है। अतः विष्णु का जगत् का पालनरूप कार्य आगे बढ़ाने के कारण शास्त्रों में सरस्वती को विष्णु की पत्नी भी कहा गया है। सृष्टि में निमित्त होने से प्रधानभूत इस रजस्तत्त्व को ब्रह्मा की पुत्री भी कहा गया है। पर एक परिभाषा के अनुसार ब्रह्मा को इसे कान्ता के रूप में देखते भी ब्राह्मण ग्रन्थों में बताया गया है। एक ही तत्त्व को भिन्न-भिन्न तरीकों से कहने की यह शैली है। पिता-पुत्री या पति-पत्नी भाव जगत् में जैसे होता है, वैसे वास्तविक नहीं है, रूपक मात्र है॥ ८-१२

(देवैर्जगदम्बायाः स्तुतिः)

विष्णोर्माया भगवती तामेते तुष्टुवुर्जनाः।
नान्यत्र शरणं दृष्ट्वा स्मृत्वा तस्याश्च रक्षणम्॥ १३

---

1. **श्रावणस्य द्वितीयेऽह्नि शुक्रे प्रातः समारभे। दुर्गातत्त्वविमर्शस्य भागमेतं शिवास्मृतिः॥**

श्रावण बदि की दूज तिथी में, वार शुक्र के प्रातकाल में।
रचूँ भाग ये सुमिर मात को, उसका सुत मैं शिवनारायण॥

जगत्प्रवाहसंसृत्यै ये दोषा अथवा गुणाः।
तामसा राजसा वाऽपि सात्त्विका वा जगत्स्थिताः॥ १४
सर्वाणि तानि रूपाणि सर्वभूतगतानि वै।
विष्णोर्मायैव सा तत्र शुभहेतुः परेश्वरी॥ १५

राजस और सात्त्विक भाव वाले वे देवता अन्य किसी को रक्षा में समर्थ और प्रवृत्त न देखकर तथा अतीत में भगवती द्वारा की गई अपनी रक्षा को स्मरण करके जगदम्बा की स्तुति करने लगे — जगत् के प्रवाह के चालू रहने के लिये जड़-चेतन पदार्थों में जो तामस भाव (दोष, कमज़ोरियाँ) अथवा गुण (अच्छाइयाँ) हैं, उन सब रूपों में जगत् के पालक विष्णु की माया ही है। यह परमेश्वरी इन रूपों में भी जगत् का पालन करने के कारण कल्याण ही करती है॥ १३-१५

सैव गौरी शिवा धात्री ब्रह्माणी प्रकृतिः परा।
कल्याणी प्रणतानां सा वृद्धिः सिद्धिस्तथा परा॥ १६
दुर्गा सा दुर्गपारा वै दुर्बोधा दुर्गमाऽसताम्।
कृष्णा धूम्राऽसतां रौद्रा सौम्या प्रोक्ता सतां तथा॥ १७
कृतिर्जगत्प्रतिष्ठा सा सर्वेषामाश्रयः परः।
यया न जगतां सृष्टिर्विकासश्च विना भवेत्॥ १८
विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।
करोति सर्वभूतानि स्थापयत्यथ नाशयेत्॥ १९

वही परा प्रकृति शिव की शक्ति 'गौरी' पार्वती है और जगद्विधाता ब्रह्मा की शक्ति धात्री, ब्रह्माणी भी वही है। उसके आगे विनम्र भक्तों का कल्याण करने वाली वृद्धि और सिद्धि के रूप में वही महामाया है। असत् प्रवृतियों वाले लोगों के लिये वह दुर्गा है, जिसे पाना कठिन है, जिसका पार नहीं पाया जा सकता, जो अज्ञानी लोगों के लिये दुर्बोध और दुर्गम है। असत्पुरुषों के लिये वह कृष्णा (काली) और धूम्रा (सब वृत्तियों को धुँधली कर देने वाली) एवं भयंकर बताई है, तो सत्पुरुषों के लिये वह सौम्य है। जगत् का जो आधार है, ऐसी कृति, चेष्टा वही है और समस्त जगत् का सर्वोत्कृष्ट आश्रय है—इस के बिना जगत् की न सृष्टि हो सकती है, न विकास और न पालन। जगत् की रचना और विविध प्रकार का विकास इसी सरस्वती के कारण संभव है। विष्णु की परमैश्वर्य-सम्पन्न माया ने जगत् को मोह में डाला हुआ है। यही राजस रूप में जगत् का निर्माण और विकास करती है, सात्त्विक रूप में जगत् की रक्षा (क्षेम) करती है और तामस रूप में जगत् का विनाश करती है॥ १६-१९

प्रोता सा सर्वभूतेषु मालायां हि गुणो यथा।

सर्वभूतेषु सा देवी चेतनारूपतः स्थिता॥ २०
बुद्धिः सा प्रविवेको वै निद्रा तस्य विपर्ययः।
विषयाणां क्षुधा चेच्छा छाया कान्तिश्च प्रापणे॥ २१
मालिन्यं पुनरप्राप्तौ प्राप्तौ विषयिणां बलम्।
अप्राप्तौ सा विरक्तानां शक्तिः स्यात् क्षुत्सहिष्णुता॥ २२
तृष्णा तर्षोऽथ लोभो यो विषयेच्छाफलं हि सः।
क्षमारूपेण सा देवी निवृत्तिपथवर्तिनाम्॥ २३

यह भगवती सारे जगत् में चेतना के रूप में उसी प्रकार ओत-प्रोत है, जिस प्रकार माला में धागा पिरोया जाता है। सत्-असत् में, उचित-अनुचित में, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में भेद करने की सामर्थ्यरूपी विवेक वही महामाया है। विवेक के उलट भाव को 'निद्रा' कहा गया है। वह भी महामाया ही है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द विषयों की इच्छा 'क्षुधा' भी वही महामाया है। विषय प्राप्त होने पर अङ्गों में जो कान्ति आ जाती है, वह भी वही भगवती है। विषय प्राप्त न होने की स्थिति में होने वाली मलिनता (कान्ति का उल्टा भाव, छाया) वही विष्णुमाया है। विषयी लोगों में विषयों की प्राप्ति होने पर बढ़ जाने वाला बल भी भगवती है। विरक्त लोगों को विषय प्राप्त न होने पर उनमें अपने मार्ग पर चलते रहने के लिये विषयेच्छाओं को पराभूत करने की जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह वही देवी है। तृष्णा, लोभ, लालच रूपादि विषयों की इच्छा का ही फल होते हैं। निवृत्तिमार्ग पर चलने वाले, संसार से विरक्त लोगों के हृदय में क्षमा (सहिष्णुता) के रूप में वही देवी होती है॥ २०-२३

समानप्रसवा जातिर्व्यक्तिभेदेऽपि या स्थिता।
गुणातिक्रमणे जातेर्व्यक्तीनां ह्रीर्हृदुद्भवा॥ २४
जातिगुणाश्रये शान्तिर्युक्तमेतत् करोमि वै।
श्रद्धा तत्र च निष्ठा वै कान्तिरेतेन या भवेत्॥ २५
धृतिश्च जायते तेन वृत्तीनामुत्तमा तु या।
मनुनोक्ता स्मृतावेषा नाम्नाऽपि धर्म एव सा॥ २६

पिण्डगत भेद के होते हुए भी एक पिण्ड से उसी प्रकार के अन्य पिण्ड को उत्पन्न करने की सामर्थ्य वाली जाति भी वही महामाया है। अपने गुण, स्वभाव और एक ही प्रकार की क्रिया की करने की सामर्थ्य की दृष्टि से समान जाति के गुणों के विपरीत कार्य करने पर व्यक्तियों को होने वाली लोकलाज (लोग क्या कहेंगे) रूप ह्री भी वही भगवती होती है। यह भाव मनुष्य को प्रवृत्त

अपकर्म से हरण करके हटा देता है, इसलिये 'ह्री' कहलाता है। महालक्ष्मी के बीजमन्त्र (ह्रीं) वाले 'ह्री' वर्णों से युक्त होने के कारण यह महालक्ष्मी रूप ही है-—गुण है, दोष नहीं। जब मनुष्य अपनी जाति के गुण, स्वभाव और क्रियाकारिता के अनुकूल कर्म करता है, तब 'मैं यह उचित कार्य कर रहा हूँ', इस प्रकार का भाव उदित होने से जो शान्ति मिलती है, वह शान्ति यही भगवती है। इस शान्ति से मनुष्य के हृदय में अपने कर्म के प्रति श्रद्धा और निष्ठा गुण भी वही भगवती है। कल्याणकामी मनुष्य को इस प्रकार शान्ति, श्रद्धा, निष्ठा और कान्ति उत्पन्न होने पर अपने गुणों के अनुसार लक्ष्मी सदा प्राप्त होती है। इस प्रकार लक्ष्मी सम्पन्न होने पर सब वृत्तियों में श्रेष्ठ 'धृति' (धैर्य) गुण प्राप्त होता है। यह वृत्ति उत्तम है और इसलिये धर्म के दस लक्षणों में मनु ने सबसे पहले इसी की गणना की है और यह तो अभिधेयार्थ (धारक होने) से भी धर्म ही है॥ २४-२६

स्मृतिरात्मस्वरूपस्य मर्यादायाः स्मृतिस्तु यत्।
दया दीनेषु तेनाथ तथा तुष्टिश्च या भवेत्॥ २७
भद्रा भगवती वृत्तिः सर्वभूतेषु संस्थिता।
प्रमेयप्रमितौ या तु प्रमातृत्वेन भूतगा॥ २८
अज्ञानिनां च सा भ्रान्तिर्मायावेशितचेतसाम्।
इन्द्रियाणामधिष्ठात्री चेतनेयं शरीरगा॥ २९
अचेतनेषु भूतेषु व्याप्तिरूपेण संस्थिता।
चेतनाचेतनं सर्वं चितिर्व्याप्य च संस्थिता॥ ३०
शुभं भद्रं सदा कुर्यादभिहन्तु न आपदः।
अध्यात्मभूतदैविक्यो या नः सन्तु च जीवने॥ ३१

अपने स्वरूप की मर्यादा को याद रखना जो है, वह 'स्मृति' गुण यही पराम्बा है। अपने स्वरूप को याद करके उसकी रक्षा के लिये दीन-दुखियों पर दया भावना और उससे दूसरे को सुख देने का जो सन्तोष होता है, वह तुष्टि भावना सभी प्राणियों में होती है और वह बड़ी कल्याणकारी होती है। वह भी भगवती ही है। अपने चक्षुरादि इन्द्रियरूप प्रमाणों से पदार्थों का बोध करने के लिये सब प्राणियों में प्रमाता के रूप में वही भगवती विद्यमान है। माया से आविष्ट हृदय वाले मोहग्रस्त प्राणियों के मन में वह 'भ्रान्ति' के रूप में रहती है। चेतन पदार्थों के शरीर में यह उनकी इन्द्रियों की स्वामिनी चेतना के रूप में और इन्द्रियशक्ति से रहित जड़ पदार्थों में भगवती 'व्याप्ति' के रूप में स्थित है। यह वह चैतन्य है, जो चेतन और जड़, सब पदार्थों को व्याप्त करके स्थित है। यह भगवती सदा हमारा

शुभ और भला करे और हमारे ऊपर आने वाली उन विपत्तियों से सदा रक्षा करे, जो हमारे जगत् का निर्माण करने वाले पाँच भूतों से एवं जगत् में व्याप्त देहाधिष्ठाता और विश्वाधिष्ठाता चेतन तत्त्वों के कारण आती है॥ २७-३१

(गङ्गापार्वत्यादितत्त्वानां व्याख्या)

कथासूत्रे तदा देवी गिरिजोमा महेश्वरी।
स्नातुमभ्याययौ तोये जाह्नव्याः परमा शिवा॥ ३२
पवित्रं मानसं यत् सा गङ्गेत्यत्राभिधीयते।
अचलाऽचलवच्छ्रद्धाभावोऽयं पार्वतीति वै॥ ३३
अस्याः शरीरकोशाच्च समुद्भूता शिवाऽभवत्।
कृतिर्नाम तु सा तत्र हेतुः सदसतामियम्॥ ३४
सर्वेषामेव रम्या सा दधाना रूपमुत्तमम्।
जगत्प्रवृतिहेतुः सा कौशिकी लोककोशकृत्॥ ३५
तस्यां विनिर्गतायां तु कृष्णाऽभूत्सा च पार्वती।
कालिकेति समाख्याता सोत्तमेषु कृताश्रया॥ ३६

श्रीदुर्गासप्तशतीगत कथा में उस समय महान् ऐश्वर्य की स्वामिनी, पर्वतपुत्री, शिवपत्नी भगवती उमा गङ्गा में स्नान करने पधारी। पवित्र मन 'गङ्गा' है। पर्वत के समान अडिग श्रद्धा भाव पार्वती है। इस भगवती श्रद्धारूप पार्वती के शरीर से परमकल्याणकारिणी चेष्टारूप भगवती प्रकट हुई, जिसके कारण सब सत्पुरुषों के सत् और असत्पुरुषों के असत् कार्य सम्पन्न होते हैं। इस कारण यह कृति, चेष्टा सबको अच्छी लगती है और उत्तम रूप धारण करने वाली है। जगत् का सृष्टि और विकास सम्पन्न करने वाली इस भगवती ने यह संसाररूपी कोश बनाया है। अतः श्रद्धास्वरूपिणी वह 'कौशिकी' है। भगवती पार्वती के शरीरकोश से जब चेष्टारूप वह भगवती कौशिकी निकल गई, तब वह भगवती पार्वती, जो गौरी थी, कृष्णा हो गई और हिमालय के समान अत्यन्त उत्तम उन्नत पदार्थों में स्थित वह भगवती पार्वती 'कालिका' कहलाने लगी ॥ ३२-३६

(देवीं प्राप्तुं शुम्भस्य सामप्रयत्नाः)

स्त्रीरत्नमेतां कल्याणीं शुम्भः प्राप्तुं तु यत्तवान्।
आत्मानं रत्नभोक्तारं मेने रत्नं च तां स्त्रियम्॥ ३७
सुग्रीवं मधुरैर्वाक्यैरानेतुं तां दिदेश सः।
कामाल्लोभाद् भयात्सोऽपि यत्नमानयनेऽकरोत्॥ ३८
तथैव श्लक्ष्णया वाचा देवी तं वै व्यबोधयत्।

आत्मनश्चाल्पबुद्धित्वं स्थैर्यं वाक्ये पराक्रमम्॥ ३९
त्रैलोक्याधिपतिः शुम्भः प्रतिज्ञा तु कृता पुरा।
श्रूयतामल्पबुद्धित्वान्मिथ्या सा क्रियतां कथम् ? ॥ ४०
यो मां जयति संग्रामे, यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके, स मे भर्ता भवेदिति॥ ४१
स्वाभिमानोऽत्र नारीणां, स्ववाक्ये स्थिरता च या।
शुम्भस्यापि च सम्मानो, देव्येमे प्रकटीकृताः॥ ४२

स्त्री के शुभ लक्षणों से युक्त, अतएव स्त्रियों में रत्न के समान रमणीय, उस रमणी कालिका के विषय में अपने भृत्यों चण्ड और मुण्ड से सुनकर शुम्भ ने उसे प्राप्त करने के प्रयत्न शुरू कर दिये। वह अपने को रमणीय पदार्थों का भोक्ता और उस रमणी को भोग्य रमणीरत्न समझता था। उसने अपने दूत सुग्रीव को आदेश दिया कि वह उस रमणीरत्न को मधुर वचनों से समझा कर ले आए। सुग्रीव ने भी उस रमणी के मन में (क) शुम्भ के प्रति प्रेम (राग) उत्पन्न करके, (ख) शुम्भ के परमैश्वर्य-सम्पन्न विशाल साम्राज्य की महारानी बनने का लोभ दिखाकर और (ग) अन्त में शुम्भ की आज्ञा न मानने का भयंकर परिणाम भोगने का भय दिखाकर (हर तरह से) उसे शुम्भ के पास लाने का प्रयत्न कियां। भगवती ने भी उतनी ही मधुर वाणी से अपनी अल्पबुद्धिता और प्रतिज्ञा पर दृढ रहने के अपने स्वभाव की दुहाई देकर उसे समझा दिया कि महाराज शुम्भ यद्यपि ऐसे ही हैं, जिन्हें पतिरूप में स्वीकार करने में कोई भी स्त्री गौरव अनुभव करेगी, पर क्या करूँ? मैंने बचकाने में एक प्रतिज्ञा कर डाली कि मुझे युद्ध में जो पुरुष परास्त कर देगा, मेरा घमण्ड चूर-चूर कर देगा, जो मेरा मुकाबला करने वाला योद्धा है, मेरा पति वही हो सकता है। सुग्रीव को देवी का यह उत्तर बड़ी चतुराई से भरा है —शुम्भ का सम्मान करते हुए भी उसे चुनौती देने वाले इस उत्तर में देवी ने (क) स्त्री जाति का स्वाभिमान, (ख) अपनी बात पर अटल रहना, और (ग) शुम्भ का सम्मान, इन तीन बातों को बड़े उत्तम तरीके से प्रकट कर दिया॥ ३७-४२

(देवीं प्राप्तुं शुम्भस्य बलप्रयोगः)

आद्यः स मधुरो यत्नो रत्नाप्तौ विफलो यतः।
दममेवाश्रयच्छुम्भः कामनाधीनधीधनः॥ ४३
धूम्राक्षं बुद्धिलोप्तारं कामक्रोधादिभिस्तु तम्।
आदिदेश बली दृप्तः शुम्भो वै धूम्रलोचनम्॥ ४४

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्येतादृशं नरम्।
तेनासौ धूम्रवृत्तिश्च करोत्यशुभनिश्चयम्॥ ४५
हे हे धूम्राक्ष, गच्छ त्वं सुन्दरीं हिमवत्स्थिताम्।
तामानय बलाद्दुष्टां केशाकर्षणविह्वलाम्॥ ४६

उस रमणीरत्न को अपनी बनाने के लिये शुम्भ का साम, दान रूप यह मीठा प्रयत्न चूँकि विफल हो गया था, अतः कामाधीन चित्त वाले शुम्भ ने उस रमणी को लाने के लिए दण्ड का प्रयोग करने का निर्णय करके काम आदि मनोविकारों के द्वारा बुद्धि का लोप करने वाले 'धूमाक्ष' को आदेश दिया कि मेरा आदेश न मानने वाली उस दुष्टा को बाल पकड़ कर खेंचते हुए व्याकुल करके जबर्दस्ती ले आओ॥ ४३-४६

(धूम्राक्षविनाशस्य तात्पर्यम्)

हूंकारेणैव भस्माभून्निश्चयेन दृढेन सः।
न दृढो निश्चयो यावद्धूम्रदृष्टिर्न नश्यति॥ ४७
धूम्रदृष्टिविलोसृणां कामादीनां विनाशने।
सिंहो यत्नमथातस्थौ धृत्यादिधर्मरूपकः॥ ४८
सोऽयं वा ऋषिभिः प्रोक्तो द्वादशात्मगुणात्मकः।
धृत्यादिलक्षणः सोऽयमाचरितः शुभमावहेत्॥ ४९
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधस्तपो दया गुणास्तु ते॥ ५०

किन्तु कालिकारूप अम्बिका ने धूम्राक्ष को प्रचण्ड हूंकार ध्वनि से भस्म कर दिया। यह प्रचण्ड हूंकार सात्त्विक जन की कामादि के कारण धूमिल हुई दृष्टि को नष्ट करने के दृढ निश्चय का प्रतीक है। स्वच्छ, निर्मल, राग आदि से रहित दृष्टि को विलुप्त करने वाले काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य का विनाश करने में धृति आदि स्वरूप वाला धर्मरूपी सिंह यत्न करने लगा। इस धर्मसिंह को ऋषियों ने बारह गुणों के रूप में बताया है। वे गुण हैं १. विपरीत परिस्थितियों में भी अविचलता, २. सहिष्णुता, ३. इच्छाओं पर नियन्त्रण, ४. पराई वस्तु को अनुमति के बिना न लेना, ५. आन्तरिक और बाह्य स्वच्छता, ६. कर्म-ज्ञानेन्द्रियों तथा मन पर काबू, ७. समझ, ८. ज्ञान, ९. व्यवहार में वस्तुनिष्ठता, १०. मन के विपरीत कोई बात होने पर आपा न खोना, ११. कष्ट सहने की प्रवृत्ति और १२. दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति करके करुणा करना॥ ४७-५०

धारयन्ति जगन्त्येते धारिता मनुजेन वै।
प्रगुणीकरोति तेषां वा एकोऽप्याचर्यते यदि॥ ५१

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
इति धर्मो गुणा ह्येते पापवृत्तेर्विनाशकः॥ ५२
धर्माचरण इत्येवं यत्नः कार्यः सदा बुधैः।
शुम्भो वा महिषो वाऽपि मधुः कैटभ एव वा॥ ५३
महासुरा विनश्यन्ति केवले धर्म आस्थिते।
का कथाऽसुरवृत्तीनामन्यासां तु विनाशने॥ ५४

अगर मनुष्य इन गुणों को अपने आचरण में लाता है, तो ये गुण उसकी रक्षा करते हैं, उसकी वृद्धि करते हैं, उसका धारण करते हैं। इनमें से अगर एक भी गुण को आचरण में ले आया जाए, तो अन्य गुण स्वतः खिंचे चले आते हैं। इसलिये ये गुण मनुष्य का पतन करने वाली पाप वृत्तियों का विनाश करने वाला, मनुष्य का धारक तत्त्व (धर्म) हैं। इसलिये समझदारी इसी में है कि इन व्यष्टि, समष्टि, व्यक्ति और समाज के धारक गुणों को अपने आचरण में लाया जाए। चाहे शुम्भ की वृत्ति हो, या महिष की, या मधु की, या कैटभ की, महाप्रबल आसुरी भाव के इन गुणों को आचरण में लाने से ये सभी दोष नष्ट हो जाते हैं, आसुरी वृत्तियों के विनाश की तो बात ही क्या है! ॥ ५१-५४

(चण्ड-मुण्डयोर्वधः)

धूम्राक्षे निहतेऽप्येवं नाहंकारस्तु नश्यति।
चण्डादिषु सहायेषु निर्भरो दीप्तमानसः॥ ५५
चण्डमुण्डौ ततो दृष्ट्वा सम्मुखे कुपितानना।
कोपेन चास्या वदनं मषीवर्णमभूत्तदा॥ ५६
कं न व्यथयन्त्येते कामक्रोधादयो जनम्।
दीप्तं स्वान्तं तु कृत्वैवमपि चित्तं तु योगिनाम्॥ ५७

शुम्भ के एक सहायक 'धूम्राक्ष' (दृष्टि की धूमिलता, मन की मलिनता) इस प्रकार नष्ट होने पर भी अपने 'चण्ड' आदि बहुविध समर्थ भौतिक साथियों के बल पर टिका अहंकार नष्ट नहीं होता, मन दीप्त बना रहता है। शुम्भ के सेनापतियों 'चण्ड' और 'मुण्ड' को अपने सामने देखकर देवी कुपित हो गई, और कोप के कारण इनका वर्ण स्याही के समान काला पड़ गया। काम, क्रोध आदि मनोविकार हृदय को अपनी ऊष्मा से प्रज्वलित करके किसे व्यथित नहीं करते? ये तो योगी लोगों के समाहित चित्त को भी विचलित कर देते हैं॥ ५५-५७

भ्रुकुटीकुटिलात्तस्या ललाटफलकाद् द्रुतम्।

काली करालवक्त्रा सा विनिष्क्रान्तासिपाशिनी॥ ५८
चण्डं पूर्वं जघानाथ बलं शुम्भस्य भौतिकम्।
मुण्डं चापीपतद् भूमौ सचिवं मतिरूपिणम्॥ ५९

क्रोध के कारण कुटिल भौहों वाली उस देवी के चौड़े ललाट से तलवार को लहराती हुई, भयंकर मुख वाली एक काली आकृति तेजी से निकली। उसने शुम्भ की भौतिक ताकत 'चण्ड' को पहले और फिर शुम्भ के सलाहकार 'मुण्ड' को मार गिराया॥ ५८-५९

(काल्याश्चामुण्डेति नामकरणम्)

शिरश्चण्डस्य काली च गृहीत्वा मुण्डमेव च।
प्राहात्रोपहृतौ चण्ड-मुण्डावेतौ महासुरौ॥ ६०
देवी तां च तदा प्राह चण्डमुण्डविनाशिनीम्।
चण्डमुण्डौ हतौ यस्माच्चामुण्डा त्वं भविष्यसि॥ ६१

उसके बाद उस 'काली' ने चण्ड और मुण्ड के सिर महादेवी को उपहार के रूप में प्रस्तुत किये और कहा कि ये चण्ड और मुण्ड आपकी सेवा में अर्पित हैं। चण्ड और मुण्ड को विनष्ट करने वाली उस काली को तब महादेवी ने कहा, 'इन चण्ड, मुण्ड का विनाश करने के कारण तुम्हारी प्रसिद्धि 'चामुण्डा' नाम से होगी' ॥ ६०-६१

(ग्रन्थकर्तुः प्रार्थना)

चण्डमुण्डौ ममापि त्वं हृदयस्थौ महासुरौ।
मातर्नाशय, कल्याणे पथि मां च प्रवर्तय॥ ६२
कृष्णा वा गौरवर्णा वा याऽसि, साऽसि ममाम्बिका।
दुग्धं तु श्वेतमेवास्ति, पीतं यदसकृन्मया॥ ६३

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे सप्तमोऽध्यायः॥

हे माँ, तुम मेरे हृदय में स्थित चण्ड और मुण्ड वृत्तियों को नष्ट कर दो और मुझे शुभ, कल्याण मार्ग पर प्रवर्तित कर दो। तुम चाहे काली हो, या गौरी, जैछी जो कुछ भी हो, मेली प्याली-प्याली माँ हो! तुम्हाला दूध तो छफेद ही है, जिछे मैंने बाल-बाल पिया है॥ ६२-६३

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में सप्तम अध्याय संपूर्ण हुआ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

(मङ्गलम्)

क्षिप्रमेव विनाशोऽस्तु हृत्स्थयोश्चण्डमुण्डयोः।
चामुण्डायाः प्रकाशः स्याद्धृदि, तस्यै नमो मम॥ १

श्रावण शुदि की दूज को, लिखता शनि के प्रात।
साढे आठ बजे शिवा, अष्टम ये अध्याय॥

मेरे हृदय में स्थित चण्ड और मुण्ड आसुर भावों का विनाश शीघ्र होवे। इसके लिये हृदय में चामुण्डा का प्रकाश होवे। उसे मैं प्रणाम करता हूँ॥ १

(चामुण्डायाः स्वरूपम्)

चण्डमुण्डविनाशाय तामसी सा चिदात्मिका।
चामुण्डा कालिका प्रोक्ता रजस्सत्त्वे च दुर्बले॥ २

प्रधानभूत तमोगुण में प्रकाशित चैतन्य वाली भगवती काली ने चण्ड और मुण्ड के विनाश के लिये चामुण्डा का रूप धारण किया था। उसमें रजोगुण और सत्त्वगुण क्रमशः अधिकाधिक दुर्बल हैं॥ २

(कथासूत्रम्)

धूम्राक्षे निहते दैत्ये चण्डे मुण्डे च पातिते।
बहुलेषु च सैन्येषु क्षयितेष्वसुरेश्वरः॥ ३
ततः कोपपराधीनचेताः शुम्भः प्रतापवान्।
उद्योगं सर्वसैन्यानामसुराणां दिदेश ह॥ ४

धूम्राक्ष, चण्ड, मुण्ड और बहुत-सी असुरसेना का विनाश होने पर क्रोधाधीन चित्त वाले प्रतापी असुरेश्वर शुम्भ ने असुरों की सारी सेनाओं को उस रमणी से युद्ध करने का आदेश दिया॥ ३-४

(देवशक्तयश्चण्डिकां प्राप्ताः)

इतश्चैवागता देव्यो विनाशाय सुरद्विषाम्।
निष्क्रम्य देवदेहेभ्यस्तद्रूपैश्चण्डिकां ययुः॥ ५
यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम्।
तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान्योद्धुमाययौ॥ ६
यथा चैवासुरी शक्तिः सर्वाऽप्येकत्र संस्थिता।
संवर्धयत्यहंकारं शुम्भरूपं महासुरम्॥ ७
तद्वद्वर्धयितुं देवीमागता देवशक्तयः।

न त्यजन्त्यः स्वरूपं स्वं स्वधर्मं वाहनं समाः ॥ ८

इधर देवताओं के विरोधी असुरों के विनाश के लिये देवताओं के शरीरों से निकलकर देवशक्तियाँ अमुक-अमुक देवताओं के रूप में चण्डिका के पास पहुँची। जिस देवता का जो स्वरूप, गहने और वाहन थे, उन्हीं के समान स्वरूप आदि से उस देवता की शक्ति असुरों से लड़ने आ गई। जिस प्रकार सारी आसुरी शक्तियाँ (आसुर भाव) एकत्र स्थित होकर शुम्भ के महासुर रूप अहंकार को बढ़ाती हैं, उसी प्रकार सारी दैवी शक्तियाँ भी अपने स्वरूप और स्वभावानुकूल धर्मरूप वाहन को न छोड़ कर दिव्य गुणों के पुञ्ज के रूप में विद्यमान देवी की अभिवृद्धि के लिये एकत्र स्थित हो गई ॥ ५-८

('सुर'-शब्दस्य व्याख्या)

सुष्ठुभावे तु कल्याणे रमन्ते ये च धार्मिकाः।
दानौदार्यदयाऽऽद्यैश्च गुणैस्ते भूषिताः सुराः ॥ ९
'दिव्' धात्वर्थयोगेन दयादानावनादिभिः।
'देव'- शब्देन ते लोके शास्त्रे चाभिहिताः सुराः ॥ १०

'सुर' शब्द 'सु' उपसर्ग और 'रम्' धातु से निष्पन्न 'र' शब्द[1] के योग से बना है। 'सु' का अर्थ कल्याण, शोभन भाव है। जो कल्याणभाव में, शोभन भाव में रमते हैं, कल्याणमार्ग के पथिक हैं, जिनका आचरण धर्म के धृति आदि गुणों से युक्त है, जो उदारता, दान, शील आदि से सम्पन्न हैं, वे 'सु+र = सुर' होते हैं। इन्हें ही 'दिव्' धातु के अर्थों गति, प्रकाश, रक्षण, तृप्ति आदि भावों से युक्त होने के कारण 'देव' कहा जाता है ॥ ९-१०

(शिवदूतीप्रादुर्भावः)

ततः परिवृतस्ताभिरीशानो देवशक्तिभिः।
तामसोऽयमहंकारस्तं स हन्तुं दिदेश ह ॥ ११
ततो देवीशरीरात्तु विनिष्क्रान्ताऽतिभीषणा।
चण्डिकाशक्तिरत्युग्रा शिवाशतनिनादिनी ॥ १२
सा चाह धूम्रजटिलमीशानमपराजिता।

---

1. पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'र' मत्वर्थीय प्रत्यय है। किन्तु प्रत्यय किसी काल में धातुज प्रातिपदिक (कृदन्त शब्द) ही थे। इसलिये ये सब उदात्त स्वर से युक्त थे। कुछ ही प्रत्यय थे, जो अनुदात्त थे। कालान्तर में पूर्वपद के साथ उत्तरपद के रूप में इनका प्रयोग निश्चित हो गया। तब ये कुछ समय तक तो समस्त पद के रूप में प्रयुक्त होते रहे, इसके पश्चात् समास-धर्म को छोड़कर ये तद्धित के रूप में प्रयुक्त होने लगे। 'र' प्रत्यय का विकास बाद में 'ल' प्रत्यय के रूप में हुआ है : अश्रीर = अश्लील ॥

दूत त्वं गच्छ भगवन् पार्श्वं शुम्भनिशुम्भयोः॥ १३
यतो नियुक्तो दौत्येन तया देव्या शिवः स्वयम्।
शिवदूतीति लोकेऽस्मिंस्ततः सा ख्यातिमागता॥ १४
पापवृत्तौ यदा जन्तुः प्रवर्तेतास्य या तु धीः।
तन्न कर्तुं हि सन्देष्टि किं तु तन्न शृणोति सः॥ १५

तब उन देवशक्तियों से घिरे, तमोगुण में व्यक्त चैतन्यरूप शिव ने उन शक्तियों को आदेश दिया कि वे असुरों का विनाश करें। इसके बाद सैकड़ों सियारियों के समान आवाजें करती हुई, अत्यन्त डरावनी और उग्र चण्डिकारूप, शक्ति देवी के शरीर से निकली। किसी से भी परास्त न होने वाली उस शक्ति ने धूमिल जटाओं वाले शिव से कहा— हे दूत, तुम शुम्भ, निशुम्भ के पास जाओ। उस देवी ने स्वयं शिव को दूत के रूप में नियुक्त किया, इस कारण वह देवी उसके बाद से 'शिवदूती' नाम से प्रसिद्ध हो गई। जब कोई मनुष्य नीचे की ओर ले जाने वाली वृत्ति के प्रति चलने लगता है, तब उसकी सद्बुद्धि उसे वैसा न करने का सन्देश देती है। किन्तु वह उसे सुनता नहीं है॥ ११-१५

(देवीनां दैत्यैः सह युद्धम्)

तेऽपि श्रुत्वा वचो देव्याः शर्वाख्यातं महासुराः।
अमर्षापूरिता जग्मुर्यत्र कात्यायनी स्थिता॥ १६
ब्रह्माणीप्रमुखा देव्योऽसुरैर्योद्धुं समागताः।
पलायनपरान्दृष्ट्वाऽसुरान्मातृगणार्दितान्॥ १७
योद्धुमभ्याययौ क्रुद्धो रक्तबीजो महाऽसुरः।

देवी की शिव के द्वारा कही बात को सुनकर वे महासुर क्रोध से भरकर वहाँ गए, जहाँ वह देवी थी। ब्रह्माणी के नेतृत्व में अन्य देवियाँ भी असुरों से लड़ने आ गईं। इन माताओं द्वारा मारे जा रहे असुरों को भागता देखकर 'रक्तबीज' नामक असुर क्रुद्ध होकर उनसे लड़ने आया॥ १६-१७

(रक्तबीजस्य स्वरूपम्)

इन्द्रादिशक्तिभिस्तस्मिन्नाहते शस्त्रसंचयैः॥ १८
यावन्तः पतितास्तस्य शरीराद्रक्तबिन्दवः।
तावन्तः पुरुषा जातास्तद्वीर्यबलविक्रमाः॥ १९
संकल्पा मानसा आज्येनाग्निज्वाला इवैधिताः।
पूर्णे वाऽपूर्ण एवापि कामेऽन्ये बहवो जनिम्॥ २०
लेभिरेऽथ जगद् व्याप्तं कामरूपैर्महाऽसुरैः।

मनोऽसुरात्तु जातेभ्यो देवाश्च भयमाययुः॥ २१

जब इन्द्र आदि की इन्द्राणी आदि शक्तियों ने उस पर नाना शस्त्रों से प्रहार किया, तब उसके शरीर से जितनी खून की बूँदें गिरीं, उनसे उसी के समान ताकत, उत्साह और पराक्रम वाले उतने ही असुर उत्पन्न हो गए। वे मन के संकल्प थे और उसी तरह बढ़ रहे थे, जैसे घी से आग की लपटें बढ़ती, भड़कती हैं। एक इच्छा पूरी हो, या न हो, और बहुत सी इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार इच्छारूप महासुरों से यह सारा जगत् व्याप्त हो गया। मनरूपी 'रक्तबीज' असुर से उत्पन्न उन असुरों से देव लोग, साधु जन, भय खा गए॥ १८-२१

(देव्या रक्तबीजवधोपायकथनम्)

ततस्तानसुरान् दृष्ट्वा चण्डिका प्राह सत्वरा।
देवि, त्वं कालि, चामुण्डे, विस्तीर्णं वदनं कुरु॥ २२
गृहाण रक्तबीजस्य शोणितं त्वं निजानने।
जायन्ते येऽसुरास्तत्र, खाद तान् मुखसंस्थितान्॥ २३

तब उन असुरों को बढ़ता देखकर चण्डिका तेजी से बोली—हे चण्डमुण्डविनाशिनि कालि, तुम अपना मुख फैलाओ और रक्तबीज के खून को अपने मुँह में ले लो। तुम्हारे मुँह में जो असुर उत्पन्न होंगे, उन सब को खा डालो॥ २२-२३

(रक्तबीजवधस्य रहस्यम्)

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्, तस्मात् पराङ् पश्यति, नान्तरात्मन्'।
कामा यदा वै हृदयेऽस्य लोपं, गच्छन्ति ते नो प्रभवन्ति तत्र॥ २४
दोषं समुत्पादयितुं समस्तास्तद्रक्तबीजस्य कथारहस्यम्॥ २५

परमेश्वर ने सब इन्द्रियछिद्रों को बाहर की ओर खुलने वाला बनाया है। इसलिये प्राणी बाहरी विषयों का ही अनुभव करता है। किन्तु जो मनुष्य निवृत्तिमार्गी है, जन्म-मरणरूप संसार से छूटना चाहता है, वह अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुख करके शोकरहित होकर परम तत्त्व का दर्शन करता है। अर्थात् मन की वृत्तियों को जागतिक पदार्थों की ओर करने से मनुष्य संकल्पजाल में पड़कर आसुरी वृति को प्राप्त करता है और मन की बहिर्गामी वृत्तियों को बाहर की ओर से मोड़ कर अन्तर्मुख करने से रूपादि विषयों के संकल्प उद्भूत ही नहीं होते, स्वतः समाप्त हो जाते हैं। जब मनुष्य की इच्छाएँ मनुष्य के हृदय में ही नष्ट हो जाती हैं, तब वे पुनः उत्पन्न नहीं होती और मनुष्य में आसुरी वृत्ति नहीं पनप पाती है। प्रस्तुत कथा में रक्तबीज की कहानी का यही रहस्य है॥ २४-२५

(दुर्गासप्तशतीनवमाध्यायगतं ध्यानम्)

बन्धूककाञ्चननिभं रुचिराक्षमालां, पाशाङ्कुशौ च वरदां निजबाहुदण्डैः।
बिभ्राणमिन्दुशकलाभरणं त्रिनेत्रमर्धाम्बिकेशमनिशं वपुराश्रयामि॥ २६

मैं आधी अम्बिका और आधे शिव के उस एकीकृत विग्रह की शरण लेता हूँ, जिसका वर्ण आधे भाग में बन्धूक पुष्प के समान रक्त है और आधे भाग में स्वर्ण के समान पीत है, जो अपने भुजदण्डों में सुन्दर रुद्राक्षमाला, पाश, अंकुश और वरमुद्रा धारण किये हुए है, जिस पर चन्द्रकला का आभूषण धारण किया हुआ है और जिसके तीन नेत्र हैं॥ २६

(ध्यानस्य व्याख्या)

दुर्गाया नवमे ध्याने ह्यर्धनारीशवर्णनम्।
जपमालावरौ शैवौ, दौर्गावङ्कुशपाशकौ॥ २७
मोक्षदाता शिवः प्रोक्तो, दुर्गा दुष्कृतनाशिनी।
ऋतस्पतेस्तु पाशेन धर्माङ्कुशेन यन्त्रणात्॥ २८
भक्तिप्रतीकं मालां च ऋतार्थं पाशमेव च।
अङ्कुशं दुष्टभावानां दमनाय धृतं तया॥ २९
वरं चतुर्थे हस्ते च बिभ्राणमर्धनारिकम्।
स्वरूपं शरणं यामि, दुर्गातत्त्वविमर्शने॥ ३०

श्रीदुर्गासप्तशती के नवम अध्याय में शिव-पार्वती, चेतन पुरुष और जड़ प्रकृति, के अभिन्न अर्धनारीश्वर स्वरूप का वर्णन किया गया है। भगवान् शिव, मोक्षप्रदाता हैं और भगवती पार्वती मनुष्य के दुष्कर्मों का नाश करती हैं। इस ध्यान में दोनों की दो-दो भुजाओं में धृत दो-दो वस्तु बताई हैं --- 1. जपमाला और 2. वरमुद्रा मुक्तिदाता शिव के हाथों में और 1. ऋत का प्रतीक पाश (बन्धन) और 2. दुष्टवृत्तियों को नियन्त्रित करने वाला धर्मरूपी अंकुश भगवती पार्वती के हाथों में स्थित बताया है। मनुष्य की दुष्ट वृत्तियों के विनाश का साधन होने से ये दो वस्तु शस्त्र और अस्त्र के रूप में वर्णित हैं --- पाश अस्त्र और अङ्कुश शस्त्र है। शिव के हाथ में माला भक्ति का और वरमुद्रा भक्ति की परिपूर्णता पर सम्पन्न वैराग्य और ज्ञान के कारण छोटे-बड़े प्राप्य बन्धनों से मोक्ष का प्रतीक है। ये दोनों निवृत्तिमार्गी मनुष्य के कल्याण के साधन हैं। इन दोनों के मध्य में जगत् की प्रवृत्ति की हेतु प्रकृति की प्रतीक भगवती पार्वती के दो हाथ वर्णित हैं, क्योंकि भगवती पार्वती भगवान् शिव के हृदय से सटी हुई हैं और भगवान् शिव उन्हें अपने दोनों हाथों से सँभाले हुए हैं। पाश का तात्पर्य ऋत है, जो जगत् की मर्यादा के रक्षक राजा वरुण के नियमों का भङ्ग करने वालों को बाँधने वाला अस्त्र है:

इसका प्रयोग प्रयोक्ता अपने हाथ से फेंककर करता है। ऋतस्पति के पाश से आबद्ध, ऋतभङ्ग करने वाले मनुष्य को नियंत्रित, करने का काम धर्म से किया जाता है, जो स्वेच्छा से प्रायश्चित के रूप में और अपराध स्वीकार करने की स्थिति में धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं के अधीन दण्ड से सम्पन्न होता है। इसे ही यहाँ 'अङ्कुश' कहा गया है और यह प्रयोक्ता के हाथ में रहकर अपराधी को नियंत्रित करता है, अतः शस्त्र है। मैं भगवान् और भगवती के इस अद्वैतभावापन्न अर्धनारीश्वर स्वरूप का इस ग्रन्थ की रचना के समय आश्रय ले रहा हूँ॥ २७-३०

(इदं स्वरूपं भक्तानां रक्षकम्)

तत्रोपहितचैतन्या माया सा त्रिगुणात्मिका।
कल्याणेप्सुजनानां वै हृदये संस्थिता सदा॥ ३१
ईदृशाः सुजना लोके भक्तिमन्तः परां प्रति।
ऋतस्पतेर्व्यवस्थां ते पालयन्ति सदा हृदा॥ ३२
तत्पालनाय ते सर्व आत्मन्यङ्कुशधारिणः।
सर्वदा ते वरांल्लोके प्राप्नुवन्ति परत्र च॥ ३३
नवमाध्यायगं ध्यानं वक्त्येतद्गुह्यवस्तु हिं।
एतद् बुद्ध्या समालोच्यं कथातत्त्वं बुधैः सदा॥ ३४

सत्त्व-रजस्तमोगुण रूपी प्रकृति के अन्दर चैतन्य के विराजमान होने से उसमें जगत् के निर्माण की सामर्थ्य आ गई और वह अव्यक्त प्रकृति व्यञ्जनसमर्थ माया बन गई। अभ्युदय और निःश्रेयस चाहने वाले लोगों के हृदय में वह भगवती सदा विराजमान रहती है। इस प्रकार के सत्पुरुष उस पराम्बा के प्रति भक्ति से सदा ही युक्त होते हैं। वे लोग सदा ही ऋतस्पति वरुण की व्यवस्थाओं का हृदय से पालन करते हैं, ऋतविरोधी अनृत आचरण कभी भी नहीं करते। उसका पालन करने के लिये वे सदा ही स्वयं पर धर्म का नियंत्रण रखते हैं। इसके फलस्वरूप वे इहलोक और परलोक में अपना अभीष्ट प्राप्त करते हैं। श्रीदुर्गासप्तशती के नौवें अध्याय का ध्यान इसी गूढ तत्त्व को प्रकाशित करता है। श्रीदुर्गासप्तशती की कथा के रहस्य का विचार इस दृष्टि से करना चाहिये॥ ३१-३४

(शुम्भ-निशुम्भयोः क्रोधः)

हते मनसि कामानां पूर्णेऽस्मिन् पीतशोणिते।
चक्राते कोपमतुलं शुम्भो निशुम्भ एव च॥ ३५
धूम्राक्षचण्डमुण्डेषु रक्तबीजे हतेषु च।
शुम्भोऽसत्त्वोऽसहायश्च निशुम्भैकसहायवान्॥ ३६

इच्छाओं से परिपूर्ण मन (रक्तबीज) जब इस प्रकार चण्डिका के द्वारा खून पी लिये जाने पर, बहिर्गामी वृत्तियों को अन्तर्मुख करके संकल्पों को समाप्त

करके मन को निःशेष किये जाने पर, मारा गया, तब अहंकार के प्रतीक शुम्भ और उसके निकटतम सहायक देह-दैहिकाध्यासरूप निशुम्भ को बहुत क्रोध आया। धूम्राक्ष, चण्ड, मुण्ड और रक्तबीज जैसे परमवीर सेनापतियों के मारे जाने पर निर्बल तथा सत्त्व गुण से रहित एवं सहायकों से रहित शुम्भ का केवल एक ही सहायक निशुम्भरूप देहाध्यास बच गया ॥ ३५-३६

(शुम्भ-निशुम्भयोर्देव्या सह युद्धम्)

भिन्नशक्तिप्रतीकाभिर्मातृभिः प्रथमं युधिम्।
चक्राते तौ महावीर्यावसुरौ निहतमानसौ॥ ३७
निशुम्भो निशितं खड्गं चर्म चादाय सुप्रभम्।
अताडयन्मूर्ध्नि सिंहं देव्या वाहनमुत्तमम्॥ ३८
ताडिते वाहने देवी भूतले तमपातयत्।
निशुम्भे मूर्च्छिते शुम्भो मनस्वी सुपराक्रमी॥ ३९
स रथस्थस्तथाऽत्युच्चैर्गृहीतपरमायुधैः।
विनष्टसर्वसाहाय्यः प्रययौ हन्तुमम्बिकाम्॥ ४०
भुजैरष्टाभिरतुलैर्व्याप्याशेषं नभो ययौ।

धूम्राक्ष से लेकर रक्तबीज तक अनेक सहायकों के मारे जाने के कारण शुम्भ और निशुम्भ का भीतरी मन तो यद्यपि बुझ गया था, तब भी जीवनभर अत्यन्त उत्साही और पराक्रमी रहे उन दोनों असुरों ने बाहरी मन से उत्साह दिखाते हुए अपनी मुख्य सेना को साथ लेकर पहले भिन्न-भिन्न देवताओं की शक्तिरूप माताओं के साथ युद्ध किया। निशुम्भ ने तीखी तलवार और ढाल लेकर देवी के उत्तम वाहन सिंह अर्थात् जगत् को धारण करने वाले गुणों (धर्म) पर प्रहार किया। देवी और सब सह सकती है, पर वरुण जैसे ऋतभङ्ग नहीं सह सकता, वैसे ही देवी धर्म पर प्रहार नहीं सहती। देवी के प्रहारों से आहत होकर निशुम्भ धरती पर गिर पड़ा और बेहोश हो गया। निशुम्भ के मूर्च्छित होने पर शुम्भ
देवी को मारने चल पड़ा। उस समय वह रथ में स्थित था और उसने अपनी उत्तम शस्त्रास्त्रों से युक्त आठ भुजाओं से सम्पूर्ण आकाश को व्याप्त कर लिया॥ ३७-४०

(शुम्भस्याष्टानां भुजानां तात्पर्यम्)

अष्टौ भुजा यथा देव्या गुणा मानुषसंश्रयाः॥ ४१
तथाऽऽसुरा भुजाश्चाष्टौ षट् ते कामादयो मताः।
रागो द्वेषश्च ते चाष्टौ भुजा इव बलाश्रयः॥ ४२
तदाश्रयेण युध्यन्ति लोका दूषितमानसाः।
स्वभावावेवमाख्यातौ, सदसद्गुणसंश्रयात्॥ ४३

जिस प्रकार सत्पुरुषों में स्थित आठ गुण देवी की आठ भुजाएँ हैं, वैसे ही शुम्भासुर के आठ दोष ही उसकी आठ भुजाएँ हैं। वे यों हैं — १. काम, २. क्रोध, ३. लोभ, ४. मोह, ५. मद, ६. मात्सर्य, ७. राग और ८. द्वेष। जिस प्रकार भुजाएँ बल का आश्रय होती हैं, वैसे ही आसुर भाव का बल इन्हीं आठ दोषों पर आश्रित होता है। दुष्ट मन वाले लोग इन्हीं दोषों का सहारा लेकर अपनी लड़ाई लड़ते हैं। सद्गुण और असद्गुण (दोषों) का आश्रय लेने पर आधारित दो प्रकार के स्वभावों का वर्णन इस प्रकार बताया है॥ ४१-४३

(शुम्भनिशुम्भयोर्मूर्च्छायास्तात्पर्यम्)

निशुम्भः शुम्भ एवापि मध्ये मूर्च्छामवापतुः।
अज्ञानं गहनं तत्र क्रोधादिकसमुच्छ्रये॥ ४४

निशुम्भ और शुम्भ दोनों युद्ध के दौरान बेहोश हो गये थे। इसका तात्पर्य यह है कि क्रोध आदि दोष जब बढ़ते हैं, तब अज्ञान और गहरा हो जाता है, जिसके चलते मनुष्य अपना आपा (होश) खो बैठता है।[1] ॥ ४४

(निशुम्भस्य वधः)

पुनश्चैतन्यमासाद्य युयुधाते तया सह।
तयोर्निशुम्भकः पूर्वं हतो देव्या महासिना॥ ४५

फिर होश में आकर वे दोनों देवी के साथ लड़ने लगे। देवी ने उनमें से निशुम्भ को तलवार से पहले मारा॥ ४५

(शुम्भेन युद्धाय देव्या आह्वानम्)

अजानन् शक्तिमाहात्म्यमन्यासां बलमाश्रिताम्।
दुर्गां तां गर्वितां मत्वा क्रुद्धः शुम्भोऽब्रवीद्वचः॥ ४६
अन्यासां बलमाश्रित्य मा दुर्गे गर्वमावह।
मया युध्यस्व दुष्टे त्वं, गर्वं वा त्यज भामिनि॥ ४७

गुस्साए शुम्भ ने महाशक्ति की महिमा को न जानते हुए उसे ब्रह्माणी आदि अन्य देवशक्तियों के बल पर गर्वित मानकर ये बात कही—हे दुर्गे, अन्य लोगों के बल का आश्रय लेकर तुम घमण्ड मत करो। हे दुष्ट सुन्दरी, तुम या तो मुझ से लड़ो, या फिर अपना घमण्ड छोड़ दो॥ ४६-४७

(देव्या उत्तरम्)

शुम्भं प्राह तदा देवी जगत्यामहमेकिका।
सर्वा एता विभूतीर्मे विशतीर्मयि पश्य च॥ ४८

---

1. श्रावण शुदि की तीज को सूर्यवार के प्रात।
पौने आठ शुरू किया, व्याख्या का यह भाग॥

इस पर देवी ने शुम्भ को कहा — सारे जगत् में मैं एक ही तो हूँ। ये जो तुम्हें दिखाई दे रही हैं, सब मेरी ही विभूतियाँ, नाना क्रियाकारी भिन्न-भिन्न रूप, हैं। इन्हें मुझ में ही प्रवेश करते हुए देखो॥ ४८

(एकत्वेऽपि भगवत्या अनेकरूपत्वम्)

एकाऽप्यनेकरूपा साऽनेकाऽप्येकस्वरूपिणी।
भिन्नाऽप्यभिन्नरूपा सा व्यक्तितो बहुधा स्थिता॥ ४९
प्रवृत्तौ भिन्नरूपा सा, निवृत्तौ चैकरूपिणी।
कारणं ह्येकरूपेयं, कार्यत्वेऽनेकरूपिणी॥ ५०

वह भगवती मूल कारण के रूप में यद्यपि एक है, तथापि व्यक्तियों (कार्यों) के रूप में उसके अनेक रूप हैं। इसी प्रकार जगत् के रूप में वह पिण्डों के रूप में यद्यपि संख्यातीत है, तथापि सब के मूल के रूप में वह एक ही है। वह प्रवृत्तिमार्गियों के लिए अलग-अलग रूपों में हैं और निवृत्तिमार्गी लोगों के लिये जगत् के विभिन्न पदार्थों में एक वही अपनी लीला कर रही है, कारण के रूप में वह एक है, कार्यों के रूप में असंख्य॥ ४९-५०

(शुभाशुभप्रवृत्त्योः संघर्षः सदा प्रवर्तते)

सुष्ठुदुष्टप्रवृत्तीनां युद्धं सर्वत्र सर्वदा।
भवत्येव च दुष्टानां वृत्तीनां संक्षयो ध्रुवः॥ ५१
व्यष्टेर्वाऽपि समष्टेर्वा कल्याणं नो ध्रुवं भवेत्।
यावद् दुष्टप्रवृत्तीनां संक्षयस्तत्र नो भवेत्॥ ५२
हिरण्यकशिपुर्वेनो रावणो वा महासुरः।
कंसो वा कौरवा वाऽपि सर्वे दुष्टप्रवृत्तयः॥ ५३
हिंसाऽऽश्रयेण वा येऽपि स्वार्थानां साधने रताः।
सर्वेषां मूलमेता वै कारणं दुष्टवृत्तयः॥ ५४
दुष्टवृत्तिविनाशाय सद्वृत्याश्रयणं करेत्।
तेन शास्त्राणि वर्तन्ते काव्यानि विविधानि च॥ ५५
रामादिवत्तु वर्तेत, न रावणादिवत्क्वचित्।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तो राम ईशोऽसुरः परः॥ ५६
सम्प्रदायास्तथा नाना विविधाश्चैव दृष्टयः।
एकमेव परं लक्ष्यं सर्वेषां जनताहितम्॥ ५७

सद् वृत्तियों और असत् प्रवृत्तियों के मध्य संघर्ष सब स्थानों और सब कालों में सब लोगों में चलता ही रहता है। इसमें भी दुष्ट प्रवृत्तियों का नाश निश्चित

है। चाहे एक व्यक्ति की बात हो, चाहे समाज की, या इस के भी ऊपर ग्राम, प्रान्त, देश, विश्व की बात हो, इनका कल्याण तब तक नहीं हो सकता, जब तक इनकी असद् वृत्तियों का नाश नहीं होता। हिरण्यकशिपु, वेन, रावण, कंस अथवा कौरव लोग, सभी बड़े-बड़े देह और गेह के अभिमानी लोग, कामादि दोषों से परिचालित होकर अपना सर्वविध व्यवहार करते थे। कायिक, वाचिक, मानसिक हिंसा का आश्रय लेकर, लोगों को आतङ्कित करके, जो लोग अपने स्वार्थों को सिद्ध करने में लगे हुए हैं, उन सब की जड़ में भी ये काम, क्रोध आदि दोषों से युक्त प्रवृत्तियाँ हैं। इन दोषयुक्त प्रवृत्तियों के विनाश के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह सद् वृत्तियों का, धृति आदि गुणों का, आश्रय ले, इन्हें आचरण में लाए। सारे विविध प्रकार के काव्य और शास्त्र इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रवृत्त हुए हैं। सब का एक ही उपदेश है— राम जैसों के समान व्यवहार करना चाहिये, रावण जैसों के समान नहीं। दोनों का अन्त लोक में प्रसिद्ध है : राम अपने आचरण से भगवान् हो गए और रावण आज भी 'राक्षस' (अर्थाद् जिसकी प्रवृत्तियाँ केवल अपनी और अपनों की रक्षा के लिये होती है) कहलाता है। इसी प्रकार जगत् में महापुरुषों द्वारा प्रवर्तित सभी सम्प्रदाय और जगत् को देखने, समझने के आस्तिक, नास्तिक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, सभी नज़रिये (दृष्टियाँ) इसी उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुए हैं। इन सब का एक ही परम लक्ष्य है — सर्वसाधारण का कल्याण॥ ५१-५७

स्वात्मीयश्रेष्ठतावादः केवलो दोषमावहेत्।
मात्सर्यं तं च पुष्णाति मात्सर्यं दोषकारणम्॥ ५८
तीक्ष्णं विवेकशूलं वै शस्त्रं कृत्वा महामतिः।
हिंस्याद् दुष्टप्रवृत्तीस्तु, सर्वाः स्वार्थाश्रयाश्च ताः॥ ५९

स्वयं को और अपनों को ही श्रेष्ठ, सही, समझना, कहना दोष उत्पन्न करता है। डाह (दूसरे की अच्छाइयों को देखकर होने वाला मानस दाह) इस दोष को पुष्ट करता है। डाह मनुष्य के मन में अन्य दोष उत्पन्न कर देता है। सन्मार्ग में लगना चाहने वाले मनुष्य को चाहिये कि धृत्यादिरूपी धर्मदण्ड पर लगे तीखे विवेकरूपी शूल को शस्त्र बनाकर सभी दुष्प्रवृत्तियों का विनाश करे॥ ५८-५९

(दुष्टादुष्टप्रवृत्त्योर्भेदः सुकरः)

दुष्टादुष्टप्रवृत्त्योस्तु भेदो नो दुष्करोऽस्ति वै।
न संम्मोहसंभवस्तत्र स्पष्टमेतन्निभाल्यताम्॥ ६०
देहदैहिकलाभाय यास्ता दुष्टप्रवृत्तयः।

या वै परोपकाराय सर्वास्ताः सुप्रवृत्तयः॥ ६१
अहमात्मा ममैते च सम्मोहोऽयं जगद्गतः।
भेददृष्टिरियं दुष्टा हेयैषा भूतिमिच्छता॥ ६२

प्रवृत्तियों के दोषयुक्त होने की पहचान यह है कि वे सब व्यक्ति के स्वार्थ पर आश्रित होती हैं। दोषयुक्त और निर्दोष प्रवृत्तियों में भेद करना कठिन नहीं होता। इनमें किसी प्रकार के भ्रम की भी गुंजाइश नहीं है। यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिये — (क) अपने शरीर के और (ख) उसके हित के लिये अपेक्षित अन्य वस्तुओं को लाभ पहुँचाने के लिये जिस भाव से जो कुछ किया जाता है, वह भाव और वह करना, दोंनौं, असद् हैं, उनसे संसार का हित नहीं होता। इसके विपरीत, स्वार्थ की उपेक्षा करके परहित के लिये जो किया जाता है, वह सत् है, संसार के बने रहने में इसके अस्तित्व, में सहायक है। पाँच भूतों से निर्मित और प्राण, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से युक्त यह देह ही 'मैं' हूँ, और मुझे सुख देने वाले अमुकामुक पदार्थ 'मेरे' हैं, यह 'मैं', 'मेरा', 'तू', 'तेरा' का भाव सारे संसार में फैला हुआ है। जगत् के पदार्थों को भिन्न-भिन्न के रूप में समझना ही दोषयुक्त है। कल्याणकारी को चाहिये कि वह इसका त्याग करे॥ ६०-६२

(शुम्भवृत्तिविनाशे जगत्सौख्यम्)

भेददृष्टिर्यदा लुप्ता शुम्भो निश्शेषतामियात्।
हते तस्मिञ्जगत्स्वस्थं प्रसन्नं च दुरात्मनि॥ ६३
वान्ति पुण्यास्तथा वाताः सुप्रभः स्याद्दिवाकरः।
ज्वलन्ति चाग्नयः शान्ता अधिभूतात्मवर्तिनः॥ ६४

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे अष्टमोऽध्यायः॥

यह भेददृष्टि जब नष्ट हो जाएगी, तब शुम्भ भी नष्ट हो जाएगा। दोषों के कारण अस्तित्व में आई शुम्भ वृत्ति जब नष्ट हो जाती है, तब सारा संसार अपने स्वरूप में स्थित होकर प्रसन्न हो जाता है, सारा वातावरण पवित्र, शुभ हो जाता है और स्थावर जङ्गम जगत् के आत्मा सूर्य की चमक भी बढ़ जाती है। भूतों में और शरीर में विद्यमान अग्रियाँ शान्तस्वभाव होकर प्रज्वलित होने लगती हैं। वे मानव को और शेष जगत् को कष्ट नहीं देती॥ ६३-६४

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में अष्टम अध्याय संपूर्ण हुआ॥

अथ नवमोऽध्यायः

(मङ्गलम्)

अङ्कुशपाशौ धत्तेऽभीतिं, भक्तजनस्येयं कुरुते।
वरदा सदसन्मार्गगताभ्यां, प्रभजे तामथ भुवनेशीम्॥ १

मैं, शिवनारायण, चौदह भुवनों की स्वामिनी जगदम्बा का आश्रय लेता हूँ, जो अङ्कुश और पाश धारण करती हैं, भक्तों को भय से रहित करती हैं और सन्मार्ग और असन्मार्ग पर चलने वालों को उनका अभीष्ट प्रदान करती हैं॥ १

(देवैर्देव्याः स्तुतिः)

देव्या हते तत्र महासुरेन्द्रे सेन्द्राः सुरा वह्निपुरोगमास्ताम् ।
कात्यायनीं तुष्टुवुरिष्टलाभाद्विकासिवक्त्राब्जविकाशिताशाः॥ २

जब भगवती ने असुरों के पूज्य स्वामी शुम्भ का विनाश कर दिया, तब शत्रुनाशरूपी अभीष्ट भगवती से प्राप्त करने के कारण अग्नि जिनके अगुवा थे, उन देवताओं के मुख इतना खिल उठे कि उन से सारी दिशाएँ प्रकाशित हो गई। उन्होंने कृतज्ञतावश भगवती पराम्बा की स्तुति यों की —॥ २

प्रपन्नार्तिहरा देवी प्रमात्री कारणं च सा।
उपादानं समस्तस्य विश्वस्येयं तथेश्वरी॥ ३
आधारो जगतामेषा महीरूपेण संस्थिता।
अपां स्वरूपमास्थाय जगन्त्याप्याययत्यथ॥ ४
पञ्चतन्मात्ररूपेऽयं वैष्णवी शक्तिरीरिता।
बीजं सा जगतां माया जगन्मोहनकारणम्॥ ५
जगतः प्रवाहनित्यस्य विद्या या आदितोऽभवन्।
भवन्ति च भविष्यन्ति समस्तास्ता भिदास्तव॥ ६
एकैवेयं महाशक्तिराद्याम्बा त्रिगुणा परा।
तयैव पूरितं सर्वं, स्तुतिः का तां निरूपयेत्॥ ७

यह देवी शरणागत लोगों की पीड़ा को दूर करती है। यह सब पदार्थों का प्रमाणों से विनिश्चय करने वाली चेतना है। यह सारे विश्व की उपादान कारण और उसका शासन करने वाली (निमित्तकारण) है। वह जगत् के पदार्थों का धरती के रूप में आधार है और जलरूप धारण करके यह सारे विश्व को आप्यायित (पुष्ट) करती है। केवल पृथिवी, केवल जल, केवल अग्नि, केवल वायु और केवल आकाश इस प्रकार परस्पर असंमिश्रित (अपञ्चीकृत) शुद्ध भूतों के रूप में यह नारायण की शक्ति मुनियों ने बताई है। सारे जगत् की उत्पत्ति जिससे हुई है, इस प्रकार की तथा जगत् को मोहग्रस्त करने वाली माया वही है। सृष्टि के प्रारम्भ से

दिन खूब बढ़ते जाते हैं। ऐसे लोग धर्म का आभास देने वाले ऐसे आचरण को अपना परमहितकारी मानते हैं॥ ५-७

न तेषां साधनं शुद्धं न साध्यं शुद्धमेव च।
आये शुद्धे मनः शुद्धं शुद्धे मनसि साध्यशुत्॥ ८
साध्यसाधनयोः शुद्धौ फलं शुद्धं भवेद् ध्रुवम्।
धर्मं वास्तवमज्ञात्वा कामार्थौ चैव तत्त्वतः॥ ९
स्वतन्त्रौ धर्मतो मत्वा कामार्थोपासने रताः।
धर्मं हित्वा तदाभासे यशःकामाद्यभीप्सिनः॥ १०
दयां दानमथाप्येते कुर्वते धर्मबुद्धितः।
देशं कालं च पात्रं च सम्यगालोच्य बुद्धितः॥ ११
दयादाने च कर्त्तव्ये अन्यथाऽधर्म एव ते।
त्रयं विचार्य कश्चिन्नो दयां दानं करोति हि॥ १२
महानत्र तु सम्मोहः प्रायेणास्ति जनस्य च।

उनका न साधन शुद्ध होता है और न साध्य ही शुद्ध होता है। जब मनुष्य का साधनोपार्जन (आय) शुद्ध होता है, तब मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध होने पर साध्य की शुद्धि होती है। साध्य (काम) और साधन (अर्थ) जब निर्दोष होते हैं, तभी शुद्ध फल प्राप्त होता है, यह निश्चित है। धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थों के वास्तविक स्वरूप को जाने विना काम और अर्थ को धर्म के अधीन न मानकर लोग केवल काम और अर्थ की प्राप्ति में रमे रहते हैं। लोग धर्म के आचरण को छोड़कर धर्म जैसा प्रतीत होने वाले कार्यों में लग जाते हैं। वे यश और इच्छाओं की पूर्ति की कामना करते हुए दया और दान को धर्म समझकर करते हैं। मनुष्य को चाहिये कि वह स्थान, समय और पात्र का विचार भलीभाँति करके दया और दान करे। ऐसा विचार न करने पर ये दोनों अधर्म ही हैं। परन्तु कोई भी इन तीनों का विचार करके दया और दान नहीं करता। लोगों को इस विषय में आम तौर पर बड़ी भ्रान्ति है ॥ ८-१२

(मोक्षकामिना किं कर्तव्यम्)

त्रिवर्गे यत्नमास्थाय चतुर्थे यत्नवान्भवेत्॥ १३
अर्थकामौ यदा धर्माधीनौ कृत्वा तु जीवनम्।
यापयेन् मानवस्तस्य पन्थाः शुद्धतमो मतः॥ १४
धावन् निमील्य वै नेत्रे प्रपतेन् न कदाचन।
धर्माविरुद्धौ कामार्थौ सेवमानः सदा पुमान्॥ १५

पहले धर्मानुकूल काम और अर्थ प्राप्ति का यत्न करके तब चौथे पुरुषार्थ मोक्ष के विषय में प्रयत्न करना चाहिये। जीवन की डगर पर काम और अर्थ को धर्म के अधीन करके चलने का यह मार्ग हमेशा ही शुद्ध रहता है। धर्म से जिनका विरोध नहीं है, उन काम और अर्थ पुरुषार्थों का सेवन सदा करके इस मार्ग पर आँख मूँद कर भी चलने वाले उस मनुष्य का कभी भी पतन नहीं होता॥ १३-१५

(साध्यसाधनयोः शुद्धेरावश्यकता)

धर्मानुकूलः कामोऽहं भगवानाह तत्त्वतः।
धर्मानुकूल एवार्थः स्यादभ्युदयसाधनम्॥ १६
इति गाँधी महानात्मा साध्यसाधनपूतताम्।
परमावश्यकीं मेने साध्यं कामश्च संमतः॥ १७

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में सार की बात कही है कि धर्म को विचारकर उसके अनुकूल इच्छा भगवान् ही है, अर्थात् सर्वथा शुद्ध है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इच्छाओं की पूर्ति का जो साधन धर्म के अनुकूल होता है, वह भी भगवान् ही है, अर्थात् शुद्ध होता है। ऐसी इच्छा और उसकी पूर्ति का साधन लोक में उन्नति का साधन बनता है। महात्मा गाँधी जी ने भी साध्य और साधन दोनों की पवित्रता (धर्मानुकूलता) को अन्यन्त आवश्यक माना है। गाँधी जी के इस कथन में साधन से अर्थ और साध्य से काम अर्थात् इच्छा या अभीष्ट अभिप्रेत हैं॥ १६-१७

(बन्धमोक्षयोः स्वरूपम्)

सम्बन्धैर्भाष्यमाणं तु जगदेतद्धि बन्धनम्।
बद्धोऽनेन जनो, मुक्तिः सर्वबन्धनवर्जनम्॥ १८

संसार सम्बन्धों से बना है—सम्बन्ध की व्याख्या (क) क्रिया और उसके कारकों के मध्य तथा (ख) द्रव्यों के साथ अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध के रूप में ही होती है। क्रिया और कारक दो पदार्थ हैं। ये परस्पर सम्बद्ध होने पर ही अपना स्वरूप (क्रियात्व और कारकत्व) स्पष्ट कर पाते हैं। इस प्रकार यह जगत् स्वयं बन्धनरूप है। माता, पिता, पुत्र, पत्नी, भाई, बहिन, शत्रु, मित्र इत्यादि सब भाव बन्धनों के ही भेद हैं। जगत् इन्हीं के माध्यम से आगे बढ़ता है। अतः संसार बन्धनरूप है तथा इसकी अभिव्यक्ति नाना प्रकार के बन्धनों (संबन्धों) के द्वारा ही होती है। उससे मुक्ति का अर्थ है सभी बन्धनों का अभाव॥ १८

(संन्यासस्यार्थः)

सर्वं संन्यस्यमानो यो देहं स्वं शवतां नयेत्।

अन्त्येष्टिं श्राद्धकर्मापि कृत्वा दीक्षामवाप्नुते॥ १९
मनुजोऽस्यां स्थितौ नूनं विष्णुर्वै जायते स्वयम्।
न्यासी नारायणस्तस्मै नमो नारायणाय च॥ २०

यही कारण है कि संन्यासी सभी बन्धनों का त्याग करके, अपने शरीर को भी अपना न समझ कर, ही संन्यासी बनता है। यहाँ तक कि वह अपनी अर्थी स्वयम् उठाकर तथा अपनी अन्त्येष्टि और श्राद्ध स्वयं करके तब संन्यासदीक्षा लेता है। इस स्थिति में मनुष्य स्वयं नारायण बन जाता है। अतः संन्यासी को 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर नमस्कार किया जाता है॥ १९-२०

देहात्मतां विवर्ज्यायं यदा न्यस्यत्यहंकृतिम्।
ममत्वबन्धनान्मुक्तिरञ्जसैवास्य सिद्ध्यति॥ २१
अहंताममताभावौ देहदैहिकबन्धजौ।
सन्त्यजन्नुच्यते न्यासी, सम्बन्धो नास्य विद्यते॥ २२
समाधौ चेतसो योऽपि ध्यातृध्येयत्वलक्षणः।
संबन्धो ध्यानमार्गेऽस्ति नासावप्यस्य शिष्यते॥ २३
'अहं' 'स' इति भेदोऽपि हंसत्वैनैक्यमाप्नुयात्।
स्वल्पोऽपि यदि रागांशो बुद्धौ कच्चित् तु तिष्ठति॥ २४
वैराग्यमस्य नो तत् स्यात् सन्न्यासः खण्डितो भवेत्।
कषायान्न विरक्तिस्तु कषाये रमते मनः॥ २५
रक्तपीतकषायाणि वस्त्राणि न्यासलक्षणम्।
मन्यमानस्तु रागेण भृशमाबद्ध एव सः॥ २६
नास्मै रोचेत वैराग्यं, रागी रागयुतप्रियः।
नमोऽस्मै दूरतो वाच्यं दूरे नारायणादयम्॥ २७

संन्यासी का देह को 'मैं' समझना जब छूट गया है, तब मेरेपन (ममता) का भाव तो स्वतः समाप्त हो जाता है। इसलिये संन्यासी उसे कहते हैं, जिसने अहंभाव और ममभाव दोनों का त्याग कर दिया है। योगशास्त्र में समाधि अवस्था में रहने वाला ध्याता, ध्येय और ध्यानरूप भेद भी संन्यासी के लिये शेष नहीं रहता। "मैं, (देहधारी चैतन्य) 'वह' (सर्वव्यापक चैतन्य) हूँ," यह ('सोऽहं') भेद भी 'हंसः' के रूप में लीन होकर अभेद के रूप में सम्पन्न हो जाता है। किसी वस्तु से किसी भी प्रकार का जुड़ाव, रागभाव अगर जरा-सी भी मात्रा में बचा रह जाता है, तो वह मनुष्य रागाभाव (वैराग्य) न होने से सन्यासी नहीं होता। उसका मन तो चित्त के कषायों से रहित (विरक्त) न होकर, केवल कपड़ों के रंग में ही

लगा रहता है। उसका मन विषयवासनाओं के रंग में रँगा रहता है। वह गेरुए, लाल, अथवा पीले वस्त्र ही धारण करके अपने को संन्यासी समझता है। ऐसे मनुष्य का मन वेष के रख-रखाव में ही लगा रहता है, वैराग्य में नहीं। देह-दैहिक वस्तुओं में रागवान् मनुष्य को रागी लोग ही प्रिय होते हैं। ऐसे संन्यासी को तो दूर से नमस्कार करना चाहिये, क्योंकि वे महाशय नारायण से बहुत दूर होते हैं॥ २१-२७

भेदः संम्बन्धमूलो वै मुक्तिर्बन्धस्य नाशनम्।
भेददृष्टेरभावस्तु सर्वत्र समतामतिः॥ २८
साम्ये कार्यभिदा नास्ति, आदेरन्तात् परं तु तत्।
साम्ये प्रतिष्ठितः साधुः प्रकृतिं स्वां तु गच्छति॥ २९
प्रकृतिलय इत्येतां स्थितिं मोक्षं स गच्छति।
प्रवृत्तौ देहगेहादिसौख्यं लौकिकमिष्यते॥ ३०
निवृत्तावलोकसामान्यं परं सौख्यं वरो भवेत्।
योऽयमेतां स्थितिं प्राप्तो नरो नारायणो हि सः॥ ३१
नमस्तस्मै करोत्येतज्जगन्नारायणाय वै।
शिवनारायणोऽप्येष नमोऽस्मै प्रकरोति हि॥ ३२

सम्बन्ध का आधार भेद होता है और मुक्ति बन्धन टूटने पर होती है। भेददृष्टि से रहित होने का अर्थ है सब को समान समझना। यही समता साम्यावस्था है। साम्यावस्था जगत् से पूर्व और पश्चात् की स्थिति है। जो इस स्थिति में पहुँच जाता है, वह प्रकृति (अपनी स्वाभाविक) मूल अवस्था में पहुँच जाता है। यह प्रकृतिलय की स्थिति है और इसे ही 'मोक्ष' कहते हैं। प्रवृत्तिमार्गी के लिये मनुष्य की इच्छाओं के छोटे-मोटे लक्ष्य ही वर हैं। निवृत्तिमार्गी के लिये तो गुणों की साम्यावस्था में, अलोक स्थिति में, प्राप्त होने वाला यह मोक्ष ही एक वर रह जाता है। जो मनुष्य इस स्थिति में पहुँच जात है, वह निश्चय ही नर से नारायण बन जाता है। ऐसे विरक्त संन्यासी के आगे सारा संसार झुकता है। यह शिवनारायण शास्त्री भी ऐसे नारायणरूप संन्यासी को झुक-झुक कर प्रणाम करता है॥ २८-३२

(सन्न्यासी एव शेषे शेते)

शेषोऽनन्तो जगन्न्यासे विश्रान्तेः साधनं महत्।
शेते नारायणश्चात्र वृत्तीः संहृत्य ताः स्वयम्॥ ३३

की। बहुत भारी अनावृष्टि होने पर असुर (स्वार्थ) वृत्ति के लोगों ने अन्न को आम आदमी की पहुँच से बाहर, दुर्लभ, बना दिया था। तब उन्हें मार कर जगदम्बा ने वह अन्न लोगों को सुलभ कराया, तब वह 'दुर्गा देवी' के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। हिमाचल में भीम (भयंकर) रूप वाले राक्षसों का भक्षण मुनियों की रक्षा के लिये किया, तो उन्होंने उसकी स्तुति 'भीमादेवी' के नाम से की। जगत् को कष्ट पहुँचाने वाले 'अरुण' नामक असुर को भ्रमर रूप धारण करके त्रिलोकी का हित करने के लिये उसे जो मारा, तो वह 'भ्रामरी' नाम से प्रसिद्ध हुई॥ २५-३१

(भक्तरक्षायै देव्याः प्रतिज्ञा)

देव्या चात्र प्रतिज्ञातं भक्तानां रक्षणाय वै।
इत्थं यदा यदा बाधा ह्यसुरोत्था भविष्यति॥ ३२
तदा तदाऽवतीर्यासौ करिष्यत्यरिसंक्षयम्।

भक्तों की रक्षा के लिये देवी ने प्रतिज्ञा की कि जब-जब असुरों के कारण इस प्रकार की बाधा होगी, तब-तब वह अवतार धारण करके उनका संहार करेगी॥ ३२

(प्रवृत्तिमार्गे मनुष्यस्य मोहस्य प्रक्रिया)

असुरत्वं मनुष्यस्य ह्यात्मस्वरूपविस्मृतौ॥ ३३
अहमेष त्वमेषोऽसि तवेदं ममकं त्विदम्।
इति नानात्वबुद्धौ तु देहदैहिकभावना॥ ३४
रागद्वेषादिबुद्धिश्च कामक्रोधादिभावनाः।
दूषयन्त्यस्य बुद्धिं च समताधीश्च नश्यति॥ ३५
वैषम्ये बुद्धिमारूढे सर्वं विषमयं भवेत्।
तेन विभ्रान्तचित्तो ना न पश्यत्यमृतां कलाम्॥ ३६
स्थितेयं हृदि मर्त्यं च कुरुते कृपयाऽमृतम्।

अपने स्वरूप को भूलने पर मनुष्य में असुरभाव आ जाता है। उसकी प्रक्रिया यह है--- सबसे पहले 'यह मैं हूँ', 'ये तुम हो', 'यह तुम्हारा है', 'ये मेरा है' इस प्रकार भेदबुद्धि उत्पन्न होती है। देहाभिमान और गेहाभिमान इसमें कारण बनता है। इस भावना में कारण राग और द्वेष जैसी बुद्धि होती है। इसके कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य भाव मनुष्य में पनपते हैं। ये मनुष्य की बुद्धि को दूषित करते हैं, जिससे मनुष्य की समत्वबुद्धि नष्ट हो जाती है। जब बुद्धि पर विषमता हावी हो जाती है, तब सारा जगत् विष के समान ज़हरीला हो जाता है। विषमता बुद्धि से विशेष रूप से भ्रान्त चित्तवाला मनुष्य उस परा अमृत

कला का अनुभव नहीं कर पाता है, जो मनुष्य के हृदय में स्थित होकर मरणधर्मा को भी कृपा करके अमृत कर देती है॥ ३३-३६

न लब्ध्वा महतीं देवीं मर्त्यो मृत्युमुखे पतेत्॥ ३७
देहदारधनादौ स बद्धभावस्तदा भवेत्।
प्राप्तौ तस्यैव यत्नं च कुरुते सर्वभावतः॥ ३८
निराकृतस्तु यैरेव दुःखं यत्कारणादभूत्।
तत्रैव ममताबुद्धिं यत्नं तत्प्राप्तये पुनः॥ ३९
करोति सर्वनाशेऽपि ज्ञानं विस्मृत्य स्वर्जितम्।

भक्तों को अमृत के समान मृत्युमुख से छुड़ाने वाली जगदम्बा की शरण जो नहीं जा पाते हैं, वे मनुष्य वास्तव में मरणधर्मा होते हैं, और मृत्यु के मुख में, आवागमन के चक्कर में, पड़ते हैं। उनका राग शरीर, पत्नी, सन्तान और इन जैसे बन्धु-बान्धवों एवम् इनके पालन के लिये अपेक्षित धन-सम्पत्ति आदि साधनों में हो जाता है और वे मोहपाश से बँध जाते हैं। वे लोग इन सब की प्राप्ति तथा रक्षा करने में ही बुद्धि और परिश्रम लगाते हैं। जो लोग उसे ठुकराते हैं, जिनके कारण उन्हें दुःख भोगना पड़ता है, उन्हीं के प्रति उनकी ममता रहती है और वे अपना सब कुछ नष्ट हो जाने पर भी, स्वाध्याय और अनुभव से अर्जित अपना ज्ञान भुलाकर भी उन्हीं को पाने का यत्न करते हैं॥ ३७-४०

(तत्रोदाहरण-द्वयम्)

अत्रोदाहरणे राजा सुरथो रिपुभिर्जितः॥ ४०
आत्मीयैर्हृतसर्वस्वो राज्याच्चैव पलायितः।
न लेभेऽसौ हि निर्वेदं राज्यं वव्रे च तन्मतिः॥ ४१
अविभ्रंशि परत्रेह हतशत्रुबलं बलात्।

इसके दो उदाहरण श्रीदुर्गासप्तशती में महर्षि मार्कण्डेय ने बताए हैं :

(१) राजा 'सुरथ' को शत्रुओं ने पराजित कर दिया और जो उनके अपने थे, उन्होंने उनका सर्वस्व छीन लिया। प्राण बचाने के लिये वे अपनी राजधानी से पलायन कर गए। पर अपनी यह दुर्गति होने पर भी उनसे राज्य की ममता नहीं छूटी, वे राज्यसम्पदा से विरक्त नहीं हो पाए। भगवती की उपासना करने पर जब माँ ने उनसे वर माँगने को कहा, तो उन्होंने शत्रुओं को अपनी ताकत से नष्ट करके इस जन्म में और अगले जन्म में न छिनने वाला राज्य माँ से माँगा॥ ४१-४२

निराकृतोऽयं वैश्योऽपि पुत्रदारादिभिर्धनैः॥ ४२
विच्यावितोऽपि बद्धश्च ममताबन्धनेन वै।
महामायास्वरूपं तु बोधितो मेधसा पुनः॥ ४३

निर्विण्णं मानसं तस्य ज्ञानं वव्रे स चाम्बिकाम्।
ममेत्यहमिति प्राज्ञः संगविच्युतिकारकम्॥ ४४
महामायाऽनुभावाच्च ज्ञानं संसिद्धिकारणम्।
समाधिं चेतसो वव्रे समाधिर्लोकवृत्तवित्॥ ४५

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे नवमोऽध्यायः॥

(२) 'समाधि' नामक वैश्य का धन भी पुत्री, पुत्र और उन जैसे निकट के लोगों ने छीन लिया और उसे अपमानित करके घर से निकलने को बाध्य कर दिया। 'समाधि' को धन-सम्पत्ति छीने जाने का दुख तो नहीं था, क्योंकि वह उसके स्वजनों के पास था, पर उसके बेहद नज़दीकी लोगों ने उसके साथ ऐसा व्यवहार किया, इसका मलाल जरूर था। पर उसकी उनके प्रति ममता ने उसे अभी भी उनके साथ बाँध रखा था। 'मेधस्' ऋषि ने उसे भी जगत् के प्रति महामाया का स्वरूप समझाया, तो उसका पत्नी और पुत्रादि के प्रति जो राग था, वह छूट गया। उसे जगत् की स्वार्थमयता समझ आ गई। उसने जगदम्बा की कृपा पाने के बाद जगदम्बा से 'मैं' और 'मेरा' की आसक्ति को दूर कराने वाला वह ज्ञान माँगा, जो जगद्बन्धनों से मोक्षकारक होता है। लोगों के व्यवहार को समझने वाले 'समाधि' वैश्य ने चित्त के समाधान का वरण करके इस प्रकार अपनी समस्या का समाधान किया — 'समाधि' नाम सार्थक किया॥ ४२-४५

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में नवम अध्याय संपूर्ण हुआ॥

अथ दशमोऽध्यायः

(मोक्षप्राप्तेर्मार्गः)

संसिद्धौ नात्र हेतुर्हि जातिर्वर्णोऽथवा वयः।
देहोऽयं दैहिकं वाऽपि पुत्रदारधनादिकम्॥ १
श्रद्धा भक्तिरथ ज्ञानं स्वधर्माचरणं परम्।
लोकबन्धनमुक्तौ तु कारणं केवलं मतम्॥ २
शास्त्राभ्यासो गुरोः सेवा, श्रद्धा स्वीया तथाऽत्र वै।
धृत्यादिकस्य धर्मस्य धारणं मोक्षकारणम्॥ ३

जाति, वर्ण, वयस्, शरीर अथवा शरीर के हित से सम्बद्ध पत्नी, बच्चे और इनके पालन के लिये आवश्यक धन, सम्पत्ति आदि साधन जगद्बन्धन से मुक्ति में सहायक नहीं होते, अपितु श्रद्धा, समर्पण भाव, वस्तु के तत्त्व की समझ

१. धृति, २. क्षमा, ३. अस्तेय, ४. दम, ५. मन, शरीर और अपने पर्यावरण की स्वच्छता, ६. ज्ञान (विषयों के प्रति इन्द्रियों की प्रवृत्ति पर विवेक का नियन्त्रण), ७. समझ (विवेक), ८. लौकिक और अलौकिक (आत्मतत्त्व) पदार्थों का स्वरूप जानने के लिये विविध शास्त्रधाराओं की जानकारी, ९. सत्य, १०. क्रोध पर नियन्त्रण, ११. कष्टमय जीवन जीने की आदत (कष्ट-सहिष्णुता) और १२. अपने से कमतर, दीन-दुखी लोगों से सहानुभूति रखकर उनके प्रति दया आदि गुणों का जीवन में आचरण ही जगत् के छोटे-बड़े बन्धन (राग) से मुक्ति में कारण माने गए हैं। नाना शास्त्रों का अभ्यास, शास्त्रज्ञान कराने वाले गुरु की सेवा, शास्त्र में श्रद्धा, गुरु के प्रति समर्पण भाव, धृति आदि द्वादश गुणों का धारण (आचरण) जागतिक बन्धनों से मुक्ति दिलाता है॥ १-३

(मोक्षस्य स्तरभेदाः)

स्वल्पेभ्योऽथ गुरुभ्यो वा बन्धेभ्यो मुक्तिरस्ति या।
लौकिक्यनेकरूपा सा मात्राभेदात् तु भिद्यते॥ ४

लोक में छोटे या बड़े रागबन्धनों से जो मुक्ति होती है, उसके अनेक रूप होते हैं। इन रूपभेदों का कारण राग की मात्रा का भेद होता है॥ ४

(उत्तमं मोक्षं लोका न कामयन्ते)

लौकिकाश्च परन्त्वज्ञा अर्थयन्ते हि लौकिकान्।
तेष्वेव च सन्तुष्टा दयां दानानि कुर्वते॥ ५
श्रद्धा तेषां न धर्मेऽस्ति धर्मतत्त्वं विदन्ति न।
धृत्यादीनां तथा व्याख्यां स्वानुकूलां च कुर्वते॥ ६
दम्भः पाषण्डमेतेन वर्धेते अनिशं महत्।
धर्माभासे तथा चैते मन्यन्ते परमं हितम्॥ ७

लोकासक्ति में आबद्ध लोग इन्हीं छोटे-मोटे बन्धनमोक्षों की कामना करते हैं। वे इन्हीं से सन्तुष्ट होकर दया और नाना प्रकार के दान करते हैं। १. धृति, २. क्षमा, ३. दम, ४. अस्तेय, ५. शौच, ६. इन्द्रियनिग्रह, ७. धी, ८. विद्या, ९. सत्य और १०. अक्रोध[1] नामक दस गुण जिसके स्वरूप को प्रकट करते हैं, ऐसे व्यष्टि और समष्टि को धारण करने वाले आचरण में ऐसे लोगों की श्रद्धा नहीं होती। इसके उलट, वे लोग इन धृति आदि गुणों की व्याख्या ऐसे ढंग से और ऐसी करते है, जो उनके आचरण के अनुकूल हो। उनके ऐसा करने से दम्भ और पाषण्ड रात

1. अपनी इच्छाओं की पूर्ति न होने पर 'अहं', 'ममता' भावों से आबद्ध मनुष्य को या तो क्रोध होता है, या निराशा, कुण्ठा। इच्छापूर्ति होने पर होने वाले लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य की अपेक्षा क्रोध मनुष्य का अधिक नुकसान करता है, और निराशा, कुण्ठा तो मनुष्य को तोड़ ही डालती है। अतः 'अकामता' आदि न कहकर 'अक्रोध' को धर्म के लक्षणों में गिनाया है॥

चले आ रहे जगत् का बोध कराने वाली नाना विद्याएँ जो आदि काल से प्रकट होती आ रही हैं, हो रही हैं और जो होंगी, वे सब हे देवी, तुम्हारे ही भेद हैं। सत्त्व, रजस्, तमस् नामक तीन गुणों के रूप में जो यह जगत् की माता, आदिकारण, महाशक्ति है, वह एक ही है और उसने इस त्रिकालस्थित समस्त जगत् को पूर रखा है। कौन स्तुति उसके स्वरूप को प्रकाशित कर सकती है?॥ ३-७

सर्वभूता च सा देवी स्वर्गमुक्तिप्रदायिनी।
सर्वेषां बुद्धिरूपेण प्राणिनां हृदये स्थिता॥ ८
परस्या अपरस्याश्च विद्यायास्तत्त्वबोधिनी।
स्वर्गापवर्गदा देवी नारायणहृदीश्वरी॥ ९
कालः कलयते सर्वं जगतामाश्रयस्तु सा।
विश्वस्योपरतिं चापि कुरुते लोकभाविनी॥ १०
सर्वमङ्गलमाङ्गल्या शिवा सर्वार्थसाधिनी।
शरण्या सर्वलोकस्य गौरी त्र्यम्बकसंश्रया॥ ११

सब रूपों में वही देवी विद्यमान है। वही (क) प्रवृत्तिमार्गी को सांसारिक दुखों से मुक्ति के रूप में लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक स्वर्गसुख देने वाली अपरा विद्या के और (ख) निवृत्तिमार्गी को जगद्बन्धन से मुक्तिरूपी परमसुख प्रदान करने वाली परा विद्या के तत्त्व का बोध कराने वाली बुद्धि के रूप में प्राणियों के हृदय में स्थित है। (क) प्रवृत्ति के लिए नारायणस्वरूप परम चैतन्य को आश्रय प्रदान करने वाली और (ख) निवृत्ति मार्ग में इस चैतन्य के आश्रित उस भगवती को हम प्रणाम करते हैं। सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, विकास और विनाश का जो आश्रय है, वह काल लोक को अस्तित्व में लाने वाली भगवती ही है। यह भगवती मङ्गल के सब अवसरों पर परम मङ्गलमयी, कल्याणकारिणी है और (क) प्रवृत्तिमार्गी, (ख) निवृत्तिमार्गी के सब ऐहलौकिक, पारलौकिक और लोकातीत सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है। वह प्रवृत्तिमार्गी सभी सत् और असत् पुरुषों को तथा निवृत्तिमार्गी सत् पुरुषों को शरण देने वाली है। ऐहलौकिक, पारलौकिक एवं लोकातीत त्रिविध पदार्थों का ज्ञान कराने वाले तीन नेत्रों से युक्त भगवान् शिव में जो आश्रित है, तथा ऐसे शिव जिसमें आश्रित हैं, इस प्रकार की गौरी, सब भेदों की एकाश्रय, भगवती ही हैं॥ ८-११

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूता चिदाश्रया।
नारायणी नमस्या नो भूतात्मदेवशान्तिकृत्॥ १२
त्रिगुणा सा महाशक्तिस्त्रिरूपाऽप्येकरूपिणी।

चैतन्य जिसमें आश्रित है, ऐसी यह देवी जगत् के पदार्थों की सृष्टि, पालन और संहार की निमित्तकारण रूप शक्ति है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव, त्रिविध जगत् को शान्तिरूप परमसुख प्रदान करने वाली इस नारायणी को हम प्रणाम करते हैं। यह महाशक्ति सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के रूप में तीन रूपों वाले अहंकार तथा उससे उद्भूत समस्त व्यक्त जगत् में एक मूल के रूप में विद्यमान महाशक्ति है। व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप वाली इस महाशक्ति के रूप परस्परविरोधी और विचित्र हैं। यह तीन रूप वाली भी एक ही है॥ १२-१३

लक्ष्मीर्लज्जा महाविद्या श्रद्धा पुष्टिः स्वधा ध्रुवा॥ १३
महारात्रिर्महामाया वरा मेधा सरस्वती।
प्रवृतिं च निवृतिं च कुरुते सा पराम्बिका ॥ १४

यह महाशक्ति सब प्राणियों में शोभा, सम्पन्नता, समृद्धि, छोटे-बड़े बन्धनों से छुटकारा दिलाने वाला श्रेष्ठ ज्ञान है, तो श्रद्धा, पुष्टि, पिता-पुत्र की परम्परा को रखने वाली स्वधा है। अज्ञानरूप, अथवा जगत् की सब वृत्तियों को उपरत करने वाली, प्रवृतिमार्ग में जगत् का निर्माण और निवृत्तिमार्ग में जगत् का प्रमाणों से विनिश्चय करने वाली शक्ति और इसका साधन मेधा एवं ज्ञान की अधिष्ठात्री श्रेष्ठ देवी यही महाशक्ति है और जगत् का प्रवर्तन, निवर्तन दोनों करती है॥ १४

सर्वस्वरूपा सर्वेशी सर्वशक्तिसमन्विता।
भयेभ्यस्त्राणकर्त्री सा दुर्गा देवी पराऽम्बिका॥ १५
सर्वतः पाणिपादा सा सर्वतोऽक्षिशिरोमुखी।
सर्वतः श्रवणघ्राणा विश्वमावृत्य तिष्ठति॥ १६
तुष्टा सा हन्ति रोगांश्च रुष्टा कामानभीप्सितान्।
इमामाश्रयमाणानां विपदो न भवन्ति च॥ १७
आश्रयत्वं प्रयान्त्येत इयमाश्रीयते तु यैः।
वन्द्याः सर्वस्य लोकस्य वन्दितारो भवन्ति ते॥ १८

यह जगज्जननी दुर्गा देवी प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष के अभिधेय सब पदार्थों के रूप में विद्यमान और इन सब पर शासन करने वाली तथा सब शक्तियों से युक्त, अतएव सब भयों से रक्षा करने वाली है। सारे जगत् के हाथ, पैर यही है। यही सब की आँखों, शिर और मुख के रूप में विद्यमान है। पदार्थों के सुनने और सूँघने की शक्ति भी नारायण रूप चैतन्य जिसमें अभिव्यक्त होता है, ऐसी महामाया ही है। अगर यह किसी पर प्रसन्न होती है, तो तीनों (स्थूल, लिङ्ग एवं कारण) शरीरों के रोगों को नष्ट करती है। अगर मनुष्य के प्रकृतिविरोधी

कदाचार के कारण कुपित हो जाती है, तो पदार्थों को पाने की इच्छाओं को और अभीष्ट पदार्थों को नष्ट कर देती है। जो लोग इस महामाया का आश्रय लेते हैं, उनको विपतियाँ नहीं आती। जो लोग इसका सहारा लेते हैं, वे लोगों को सहारा देने वाले बन जाते हैं। जो किसी की वन्दना करने वाले थे, इस की वन्दना करने पर वे सब लोगों के वन्दनीय हो जाते हैं॥ १५-१८

मुनिभिर्वर्णिता सेयं सर्वलोकहिताय वै।
सर्वथा ज्ञानरूपाऽपि महामोहमयी च सा॥ १९
पात्रानुसारतो लोकान् विभ्रामयति तामसी।
देहदैहिकभावेषु रतिभावविवर्धिनी॥ २०

परा और अपरा रूप सब विद्याओं में उनका प्रतिपादन करने वाली नाना ज्ञानशाखाओं में और परम तत्त्व का ज्ञान कराने वाले महावाक्यों में मुनियों ने विविध प्रकार की प्रवृत्तियों वाले लोगों का हित दृष्टि में रखकर इसी का वर्णन किया है। यह हर प्रकार से ज्ञानस्वरूपिणी भी है और जगत् के विषय में महामोह के रूप में भी यही है। तमोगुणप्रधान यह देवी उनके देहाभिमान (अहंकार) और दैहिकाभिमान (ममता) भाव की मात्रा, उनमें रति उत्पन्न करके, बढ़ा देती है और इस प्रकार सब लोगों को नाना योनियों में भ्रमण कराती रहती है॥ १९-२०

महामोहा भगवती मोहयेत् सकलं जगत्।
भक्ता ये परमामाद्यां भजन्ति श्रद्धया नराः॥ २१
करोति तेषां कल्याणं विपद्भ्यश्चैव रक्षणम्।
दावानलाब्धिमध्ये सा गृहीतान् रक्षति प्रियान्॥ २२

महामोह (तत्त्व की नासमझी) रूप यह महामाया सारे जगत् को मोहित किये रखती है। अज्ञान में जो भक्त लोग जगत् की मूल इस भगवती के प्रति समर्पित हो जाते हैं, यह उनका कल्याण और विपत्तियों से उस समय करती है, जब वे मात्र अपनी रक्षा में लगे रहने वाले, स्वार्थी, दुनियाँदारी के लोगों से, भयंकर सर्पों से, उनके समान कुटिलगति क्रोधी दुर्जनों से, मदावस्था में बौराए हाथियों से, उनके समान शक्तिमद में मस्ताए लोगों से, शत्रुओं से तथा चोरों, डाकुओं, लुटेरों से, जंगल की आग के या समुद्र के बीच घिरे होते हैं॥२१-२२

विश्वेश्वरी च विश्वस्य विश्वात्मा धारिणी परा।
विश्वेशैर्वन्दनीया त्वं देवि विश्वार्तिहारिणी॥ २३
त्रैलोक्यवासिनामीड्या लोकानां वरदाऽसि च।

सर्वबाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरी ॥ २४
आराधिता सदा भक्तैः कार्यं तेषां करोति वै।

हे देवि, तुम समूचे जगत् की स्वामिनी हो। विश्व तुम्हारा ही स्वरूप है और विश्व का धारण, पोषण करने वाली तुम्हीं हो। तुम्हारा आश्रय लेकर तुम्हारे प्रति भक्ति से नम्र लोकपाल तुम्हारी वन्दना करते हैं, यह उचित है। अपने प्रति नम्र लोगों की सब पीड़ाओं को दूर करने वाली देवी की वन्दना भूर् (पृथ्वी), भुवर् (अन्तरिक्ष) और स्वर् (द्यु) नामक तीनों लोकों में निवास करने वाले जन्तु करते हैं। यह उनके छोटे-बड़े सब अभीष्ट पदार्थ प्रदान करती है। समस्त जगत् की स्वामिनी वह भगवती त्रिलोकी की सारी बाधाओं का शमन करती है। भक्तों द्वारा आराधित वह उनके कार्य सदा सम्पादित करती है ॥२३-२४

(भक्तरक्षायै धृतानि जगदम्बाया नामरूपान्तराणि)

नन्दगोपाद्यशोदायां जाता विन्ध्यनिवासिनी ॥ २५
भक्षणाद् वैप्रचित्तानां रक्ता दन्ता यदाऽभवन्।
तदा सा कथिता भक्तैः श्रद्धया रक्तदन्तिका ॥ २६
शतवार्षिक्यनावृष्टिस्त्रासयामास भीषणम्।
मुनिभिः संस्तुता भूमौ शताक्षैर्यन्न्यरूपयत् ॥ २७
शताक्षीति च तां भक्ताः शाकैश्च प्राणधारिताः।
शाकम्भरीति सन्तुष्टा अस्तुवंस्तां पराम्बिकाम् ॥ २८
अनावृष्ट्यां महत्यां च दुर्गमेऽन्ने कृतेऽसुरैः।
दुर्गादेवीति हत्वा तान्विख्यातिं सा परा गता ॥ २९
रक्षांसि भक्षयामास भीमरूपान् हिमाचले।
मुनीनां त्राणहेतोस्तां भीमादेवीति तुष्टुवुः ॥ ३०
अरुणाख्यं जगत्त्रासं हत्वा भ्रामररूपतः।
भ्रामरीति तदाख्याता त्रैलोक्यहितकारणम् ॥ ३१

नन्द नामक गोप से यशोदा नामक पत्नी में उत्पन्न देवी 'विन्ध्यवासिनी' कहलाती है। 'वैप्रचित्त' नामक राक्षस का भक्षण करने वाली देवी के दाँत जब खून से लाल हो गए, तब भक्तों ने उसे श्रद्धा से 'रक्तदन्तिका' नाम दिया। किसी समय सौ बरस तक बरसा न होने पर अकाल की विभीषिका ने लोगों को त्रस्त कर दिया था। तब मुनियों ने उस की स्तुति की। देवी ने अपनी सौ आँखों से लोगों को देखा, तब लोगों ने उसे 'शताक्षी' कहा। उसने शाक के रूप में लोगों को जब जीवित रखा, तब सन्तुष्ट लोगों ने उस जगदम्बिका की स्तुति 'शाकम्भरी' नाम से

प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च वरदोभयथाऽम्बिका।
सर्वशास्त्रार्थसारोऽयं श्रद्धया धीयतां मतौ॥ ३४

सब बन्धनों का लोप होने पर संन्यासी को यह जगत् शेष (शून्य) हो जाता है। गैंडुली मारकर पड़ा रहने वाला नाग इसी का प्रतीक है। इस अवस्था का अन्त न होने के कारण यह अवस्था अनन्त है और नाना योनियों में भ्रमण पर विराम लग जाने से विश्रान्ति का परम सुखद साधन, शय्या, बन जाती है। इस 'शेषरूप' (अनन्त जगद्रूप) शय्या पर केवल नारायणरूप संन्यासी ही शयन करता है, जिसने अपनी सब वृत्तियों को समेट लिया है, आत्मलीन कर लिया है तथा जिसको विधि-निषेधात्मक कुछ भी शेष नहीं बचा है। चाहे प्रवृत्तिमार्ग हो, चाहे निवृत्तिमार्ग सब को सब प्रकार का अभीष्ट देने वाली जगदम्बा दोनों मार्गों में अभीष्ट फल प्रदान करती है। सब शास्त्रों का यही सार है। इसे श्रद्धा से हृदय में धारण करें॥ ३३-३४

(ग्रन्थकर्तुः प्रार्थना)

प्रवृत्तावधुना मे सा वरं योग्यं प्रयच्छतात्।
निवृत्तौ यत्नवांश्चेत् स्यां वरं योग्यं प्रयच्छतात्॥ ३५

इस समय प्रवृत्ति मार्ग पर स्थित मुझे वह भवानी इसके योग्य अभीष्ट की पूर्ति करे। अगर भविष्य में मेरी प्रवृत्ति निवृत्तिमार्ग पर हों जाए, तो उसके योग्य वर वह मुझे प्रदान करे॥ ३५

(अध्यायसमाप्तिकालः)

श्रावणे कृष्णपक्षस्य द्वितीयायां भृगौ पुनः।
रात्रौ विंशोत्तरे नादे दशमे दशमो गतः॥ ३६

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे दशमोऽध्यायः॥

इस संस्कृत ग्रन्थ का दसवाँ अध्याय सावन बदि दूज शुक्रवार को रात में दस बजकर बीस मिनिट पर सम्पूर्ण हुआ॥ ३६

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में दशम अध्याय संपूर्ण हुआ॥

आत्मनि वेदनम्

(अपने विषय में कथन)

अथैकादशोऽध्यायः

(मङ्गलम्)

भवं भावयति ब्रह्मा विष्णुस्तं चैव रक्षति।
नाशयंश्च भवः सोऽयं नमोऽस्मै विषमेशिने॥ १

ब्रह्मा भव (संसार) को अस्तित्व में लाते हैं और विष्णु उसकी रक्षा करते हैं। शिव उसका विनाश करके भी 'भव' (अस्तित्व में लाने वाले) कहलाते हैं। ऐसे बेढब, काम और नाम से विसंगत, उस देवता को मेरा प्रणाम है ॥ १

(ग्रन्थकर्तुः कामना)

अम्बायाश्चरणौ ध्यात्वा, स्मृत्वा सर्वान्गुरूँ्था।
वेदावेदाङ्गविद्यानां, प्रचारे व्यापृतोऽधुना॥ २
भारत्या भारतस्याथ गौरवस्याभिवृद्धये।
आयुःशेषं नयेयं चेत् स्याज्जीवनकृतार्थता॥ ३
इयमाराधना देव्या, न पूजां न च वै स्तुतिम्।
कर्तुमस्मि समर्थोऽहं देव्यङ्कावाससौख्यभृत्॥ ४
नित्यमानन्दमग्नोऽस्मि, देव्या स्वहस्तलालितः।
ईक्ष्ये कृपाऽऽप्लुतेनाहं नयनेनाम्बया स्वयम्॥ ५

अब मैं जगदम्बा के चरणों का और जन्म तथा विद्या के सम्बन्ध से अपने बड़े जनों का स्मरण करके वेदों तथा वेदों की अङ्ग विद्याओं के प्रचार में प्रयत्नशील हूँ। अपनी बाकी उम्र भारत की प्राचीन भाषाओं के और भारत के गौरव की वृद्धि में बिता पाता हूँ, तो अपने जीवन को सार्थक समझूँगा। यही मेरी देवी की आराधना है। मैं न कोई पूजा कर पाता हूँ, और न ही कोई पाठ। हाँ, इतना अवश्य है कि सदा जगदम्बा की गोद में खेलने का सुख अवश्य पाता हूँ। जगदम्बा मुझे प्रेम से अपने हाथ से दुलराती रहती है, मुझे कृपापूर्ण आँखों से निहारती रहती है। मैं इस कारण सदा आनन्द में मग्न हो निश्चिन्त रहता हूँ ॥ २–५

(ग्रन्थकर्तुर्भाग्यशालिता)

अहो भाग्यानि मे सन्ति, पितृणामाशिषो मयि।
विषमेऽपि च कालेऽस्मिन्ननुकूलं ममास्ति यत्॥ ६
ब्राह्मण्यं लम्भितो यच्च, विद्वाँल्लब्धः पिता तथा।
शिवभक्तो, महोदारो विरक्तोऽपि गृहे स्थितः॥ ७
ततः पुण्यतमं ह्येतद् गुरवो मे कृपालवः।
अपरस्याः परस्याश्च समस्ताः पारगामिनः॥ ८
उपादिक्षन्मयि प्रीत्या नाना विद्याविशारदाः।
उपदेशं श्रमस्यापि, कृत्वा मार्गे ह्यवीवृतन्॥ ९
स्वीयशास्त्रस्य वेत्तारो वेत्तारः शिष्यचेतसः।
स्वीयां विद्यां निवप्तारः शिष्यक्षेत्रे प्रयत्नतः॥ १०
एतेषामेव यत्नेन किञ्चित्कर्तुमपीपरम्।

तैरेव च प्रयत्नेन बुद्धिर्मे उर्वरा कृता॥ ११

मैं अवश्य ही बहुत भाग्यशाली हूँ, मेरे पुरखों की आशीसें भी मुझे खूब मिली हैं, क्योंकि भारत की प्राचीन भाषाओं (संस्कृत, पालि और प्राकृत) के अध्ययन और शास्त्रों की सेवा के लिये बड़े प्रतिकूल समय में भी मुझे सब अनुकूल ही मिला — १. प्रथम तो इस कारण कि मेरे प्रारब्ध ने मुझे गुण और स्वभाव से ब्राह्मण बनाया; २. इसके बाद सौभाग्य की बात यह है कि मुझे विद्वान्, शिवभक्त और अत्यन्त उदार पिता मिले, जो गृहस्थ होते हुए भी विरक्त थे; ३. इसके बाद परम सौभाग्य की बात यह रही कि मुझे (क) अपरा और (ख) परा विद्याओं के सभी स्तरों के अद्भुत गुरु मिले और उन्होंने मुझे (क) अपरा और (ख) परा विद्याओं का उपदेश तो किया ही, (ग) श्रम का महत्त्व बताकर सन्मार्ग पर चला भी दिया। ये लोग अपने शास्त्र के मर्मज्ञ तो थे ही, शिष्य के मन को और सामर्थ्य को भी भली-भाँति पहिचानते थे। इन्होंने अपनी विद्या को शिष्यों के बुद्धिरूपी खेत में मेहनत करके बोया और मेरी बुद्धि को तो विशेष प्रयत्न करके उर्वर बनाया। इसी के कारण मैं कुछ कर पाया हूँ॥ ६-११

(ग्रन्थकर्तुर्गुरुपरम्परा)

१. आद्यो गुरुः पिता मेऽयं निरुक्तं व्याकृतिं तथा।
अध्यापिपद्दिरं दैवीमशिशिक्षच्च भाषितुम्॥ १२
२. पन्तो लोकमणिर्धीमान् पितुर्मित्रं पुरातनम्।
३. म० म० गिरिधरो धीमांश्चतुर्वेदो महागुरुः॥ १३
४. जगन्नाथ उपाध्यायः शिष्याणां स हिते रतः।

(१) मेरे प्रथम विद्यागुरु तो मेरे पिता जी थे। इन्होंने मुझे व्याकरण (सिद्धान्तकौमुदी) और निरुक्त तो पढ़ाए ही, बाल्यावस्था में ही संस्कृतसम्भाषण में अभ्यस्त कर दिया। (२) श्री गागरमल संस्कृतमहाविद्यालय, अमृतसर (पंजाब), में पण्डित श्रीलोकमणि पन्त जी तथा (३) महामहोपाध्याय पण्डित श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेद जी, नीची ब्रह्मपुरी, काशी, आप दोनों से मैंने काव्यप्रकाश पढ़ा। राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (पश्चात् सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) में (४) शिष्यों के हित में रत पण्डित श्रीजगन्नाथ उपाध्याय जी से न्याय, वेदान्त और पालिभाषा तथा त्रिपिटक के कुछ भाग का अध्ययन किया॥ १२-१३

५. यत्र विनीतमूर्धानो गुरवोऽपि च शास्त्रहृत्॥ १४
ज्ञातुमभ्याययुः सोऽयं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रकः।
शर्मा श्रीरघुनाथाख्यः काशीनाथसुधीसुतः॥ १५

अम्बाकर्त्र्याः प्रणेताऽभूद् हरेर्वाक्यपदीयके।
मामध्यजीगमत् सोऽयं प्रस्थानं चाथ भामतीम्॥ १६

(५) वहीं पर दर्शन और व्याकरण की नाना शाखाओं के मूर्धन्य जिज्ञासु विद्वान् जटिल गुत्थियाँ सुलझवाने के लिये सिर झुकाकर सब शास्त्रपरम्पराओं में अव्याहत गति वाले पं० रघुनाथशर्मा जी के पास कबीरमठ में उनके निवास पर निस्संकोच आते थे। आपके पूज्य पिताजी पण्डित श्रीकाशीनाथ जी महाभाष्य के धुरन्धर विद्वान् थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल काँगड़ी में व्याकरण पढ़ाने के लिये उनकी सेवाएँ ली थी और वे मूर्तिपूजाविरोध के उस गढ़ में नित्य गंगास्नान और पार्थिव शिवपूजन आदि अनुष्ठान स्वतन्त्रभाव से किया करते थे। पं० श्रीरघुनाथशर्मा जी ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय पर प्रसिद्ध अम्बाकर्त्री व्याख्या लिखी है। आपसे मैंने प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य तथा भामती का अध्ययन किया था॥ १४-१६

६. श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासुः शिशुरिवर्जुभाववान्।
अष्टकस्याद्भुतो विद्वान, कञ्चित्कालमशिक्षयत्॥ १७
अध्यापकोचितान्काँश्चिद् गुणांश्चावाप्तवाँस्ततः।
७. श्रीमान् गोपालशास्त्रीति विद्वान्दर्शनकेसरी॥ १८
प्रावर्तयच्च मामष्टाध्याय्याः दीधौऽपेक्षितः।
गुरुरेष तथा मित्रं भिवानीनगरीं गतः॥ १९

(६) काशी में ही अजमतगढ़ पैलेस में अष्टाध्यायी के अद्भुत विद्वान् परमश्रद्धेय, शिशुवद् ऋजुस्वभाव पण्डित श्रीब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी महाराज से कुछ समय अष्टाध्यायी का अध्ययन किया तथा अध्यापकोचित कुछ गुण सीखने का प्रयास भी किया। (७) काशी की पण्डितसभा के अध्यक्ष, दर्शनकेसरी गोपालशास्त्री जी से मेरा प्रथम परिचय श्रीहरियाणा शेखावाटी ब्रह्मचार्याश्रम, भिवानी, में १९५५ में हुआ था, जब वे एक वर्ष यहाँ आचार्य के रूप में रहे थे। उन्होंने मुझे प्रथम तो अष्टाध्यायी से परिचित कराया, फिर उसके प्रचारकार्य के लिये प्रेरित किया। उन्होंने मुझे पं० श्रीहरिशंकर शर्मा का **आर्षं पाणिनीयं व्याकरणम्** ग्रन्थ महावैयाकरणताप्राप्ति के आशीर्वाद और संकल्प के साथ दक्षिणासहित शुभ मुहूर्त में अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिये प्रतिबद्ध करके दिया। पूज्य दर्शनकेसरी जी के इस कार्य ने मुझे सदा के लिये व्याकरण की आर्ष परम्परा से जोड़ दिया॥ १७-१९

(दिल्लीविश्वविद्यालये गुरुपरम्परा)

८. श्रीसत्यभूषणो योगी, नैरुक्तं मर्म चापिपत्।

९. पितेव स्नेहभावेन नरेन्द्रनाथचौधुरी:॥ २०
वैदिकीं व्याकृति मां स वेदं वृत्तिमथापिपत्।

दिल्ली विश्वविद्यालय में (८) सेण्ट् ष्टिफेंस कालेज के संस्कृतविभागाध्यक्ष तथा कलासंकाय के संस्कृत विभाग में वेद और निरुक्त के प्राध्यापक श्रीसत्यभूषण योगी से निरुक्तशास्त्र का मर्म जानने का अवसर मिला। इसी ज्ञान ने आगे चलकर मेरे प्रथम ग्रन्थ निरुक्तमीमांसा तथा निरक्तविद्या से संबद्ध अन्य ग्रन्थों के रूप में विस्तार प्राप्त किया। (९) विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग के तथा कलासंकाय के अध्यक्ष डॉ0 श्रीनरेन्द्रनाथ चौधुरी, काव्यतीर्थ, डी0 लिट् ने मुझे पितृवत् स्नेह प्रदान किया तथा मेरे ज्ञान के कच्चे क्षेत्र वैदिक व्याकरण, स्वरप्रक्रिया तथा ऋग्वेद का ज्ञान कराया। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह रही कि शोधोपाधि न होते हुए भी मुझे किरोडीमलमहाविद्यालय, दिल्ली, में संस्कृतविभाग के प्राध्यापक के रूप में अगस्त १९६२ में नियुक्त करने में पुरोभागी बने। यहाँ मैं अन्तिम पन्द्रह वर्ष प्रवाचक (रीडर) पद पर रहकर सेवाकाल की निवृत्ति (मई २००१) तक रहा। आपने अत्यन्त कच्ची वय में मुझे कलासंकाय में एम0 ए0 की कक्षाएँ पढ़ाने का अवसर भी १९६३ जनवरी में ही देकर मुझे विकास का अवसर दिया॥ २०-२१

१०. श्रीमान्त्सत्यव्रतः शास्त्री नानाविद्यांविशारदः॥ २१
कविमार्गसुवेत्ताऽयं बहुकाव्यमहाकविः।
अपि पत्राणि मित्रेभ्यः संस्कृतेन लिखत्यसौ ॥ २२
प्रेरणास्पद एषोऽस्ति मादृक्शिष्यस्य तत्कृते।
लेखने श्रद्धया वर्ते सामर्थ्यं चात्र लम्भितः॥ २३

(१०) भाषाविज्ञान और व्याकरणशास्त्र में पारंगत, अनेक काव्यों के यशस्वी प्रणेता, देश-विदेश के अनेकानेक सम्मानों और पुरस्कारों से पुरस्कृत मित्रों से पत्र व्यवहार में भी ललित संस्कृतकाव्य का व्यवहार करने वाले डॉ0 सत्यव्रत शास्त्री ने मुझे विद्यासम्बन्ध से गुरुत्व के साथ पितृतुल्य स्नेह की शीतल छाया भी प्रदान की। डॉ0 सत्यव्रत शास्त्री जी की श्लोकों से पत्रव्यवहार की प्रवृत्ति ने मुझ जैसे अज्ञानी की श्रद्धा श्लोकबद्ध पत्रव्यवहार में और अधिक पुष्ट कर दी। मुझे इस विषय में गुरुकृपा ने ही समर्थ बनाया है॥ २२-२३

(काव्यनिर्माणे प्रवर्तकौ)

संस्कृतलेखने चादौ, पिता प्रावीवृतत्तु माम्।
काव्यनिर्माणशिक्षां स तत्राभ्यासमचीकरत्॥ २४
११. वृद्धिं तत्र तथा चक्रे वैद्यः श्रीकान्हदासजीः।

अमरकोषसातंकदर्पणं माधवस्य सः॥ २५
निदानं, भावमिश्रस्य निघण्टुं चाप्यपीपठत्।
श्लौकेः सम्भाषणाभ्यासमकार्ष्व समये सति॥ २६

संस्कृत में लिखने में सब से पहले मुझे पूज्य पिताजी ने प्रवृत्त किया। उन्होंने ही मुझे संस्कृतकवितारचना सिखाई और उसका अभ्यास कराया। मेरी इस प्रवृत्ति में बढ़ोतरी की (११) वैद्य कान्हदास जी ने। उन्होंने मुझे बचपन में **अमरकोष, आतंक** और **दर्पण** टीकाओं सहित **माधवनिदान** तथा **भावप्रकाश निघण्टु** कुछ समय पढ़ाया। इससे मुझे इन ग्रन्थों में प्रवेश मिल गया और फिर तो मैंने **चरक, सुश्रुत** और **वाग्भटीय** आदि कई ग्रन्थ स्वरुचि से पढ़े। नाडीविज्ञान के मनीषी विद्वान् पं० सत्यदेव वाशिष्ठ का ग्रन्थ **नाडीतत्त्वदर्पण** बड़े यत्न से पढ़ा, पर गुरु और प्रयोग का अवसर न होने से वह बहुत समझ में नहीं आया। अस्तु, मैं और कान्हदास जी जब भी समय मिलता था, आपसी बातचीत भी श्लोकों में करने का अभ्यास किया करते थे॥ २४-२६

१२. मणिशंकरनामाऽथ वसन्तरामसत्सुतः।
उपाध्यायो बडौदेऽयं वेदान्ते व्याकृतौ तथा॥ २७
योगे सांख्ये स्वरे विद्वान्व्याख्यत्स ब्रह्मसूत्रकम्।
श्लोकानां दशसाहस्त्र्या काशिकां मामपीपठत्॥ २८
व्यासभाष्यं तथा भौजीं वृत्तिं भूषणसारकम्।
भ्वादिव्याख्याविचारेऽयं भूयसोपाकरोन्मम॥ २९

(१२) ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, हरिद्वार, के स्नातक, महाराज सयाजीराव हाई स्कूल, बड़ौदा (गुजरात), में संस्कृताध्यापक पण्डित श्रीमणिशंकर वसन्तराम उपाध्याय सांख्य, योग, वेदान्त और व्याकरण तथा वैदिक स्वरशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या १०,००० (दस हजार) श्लोकों में सांख्य की दृष्टि से की थी। इसके चतुःसूत्री अंश का प्रकाशन केन्द्रसरकार के सहयोग से हुआ भी था। महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा (गुजरात) के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष, प्रोफेसर एस० एस० भावे की प्रसिद्ध सामवेदव्याख्या में स्वरभाग का लेखन पं० मणिशंकर व० उपाध्याय के सहयोग से ही सम्पन्न हुआ था। मैंने और म० स० वि० बडौदा के प्राध्यापक और पश्चाद् विभागाध्यक्ष तथा प्रोफेसर डॉ० अरुणोदय नटवरलाल जानी ने पूज्य गुरुदेव के घर पर नित्य जा कर काशिका का अध्ययन १९६१-६२ के आर्यकन्या महाविद्यालय, कारेलीबाग़, बड़ौदा, में अपने अध्यापनकाल में किया। उसके पश्चात् १९६७ के ग्रीष्मकाल में ओरियण्टल लाइब्रेरी, बड़ौदा, में निरुक्तमीमांसा पर कार्य करने के लिये अपने

प्रवास के अवसर पर प्रातःकाल कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषणसार के तिङर्थनिर्णय प्रकरण का और सायंकाल अपने मित्र श्रीसुरेन्द्रकुमार गम्भीर के साथ योगदर्शन पर व्यासभाष्य तथा भोजवृत्ति का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त १९६१-६४ के मध्य लिखित वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीभ्वादिभवतोषिणी टीका के बहुत से अंश उन्हें सुनाए तथा उसके **'कृपो रो लः'** सूत्र की व्याख्या पर गम्भीर विचारविमर्श किया। वे मेरे निष्कर्षों से सहमत नहीं थे। उन्होंने कहा था **सर्वं शास्त्रमाविलं कृतम्**। पर उनके पास खण्डन के लिये कोई तर्क भी नहीं थे ॥ २७-२९

(एतेषां गुरूणां प्रशंसा)

अध्यापकास्तु नाना स्युर्गुरुस्तु भास्करो यथा।
एक एवापि पर्याप्तः शिष्यहृद्ध्वान्तवारणे ॥ ३०
मम त्वेते महोदारा नानाशास्त्रविशारदाः।
विद्याश्चैवापरा दत्त्वा स्वान्तध्वान्तमदीध्वसन् ॥ ३१
ममाभ्युदयसिद्ध्यर्थं प्रादुर्मे तेऽधिरोहिणीम्।
यामधिरुह्य वाप्तोऽस्मि स्वाभ्युदयपरम्पराम् ॥ ३२

किसी विषय को पढ़ाने वाले तो बहुत हो सकते हैं, किन्तु जैसे अन्धेरा हटाने में पूर्णतया समर्थ तो एक सूरज ही समर्थ होता है, वैसे ही शिष्य के अज्ञानान्धकार का निवारण तो एक गुरु से सम्भव होता है। मुझे तो नाना शास्त्रों में निपुण इन गुरुओं ने नाना अपरा (भेदात्मक लोकज्ञान में अपेक्षित) विद्याएँ दीं। भेदात्मक जगत् के ज्ञान के द्वारा धर्म, काम और अर्थ के सन्तुलित ज्ञान और आचरण में प्रेरित करके मेरा अभ्युदय सिद्ध करने के लिये एक सीढ़ी प्रदान की। जिस पर चढ़कर मैने धर्म के एक फल अभ्युदय की पूरी परम्परा पुरस्कारस्वरूप प्राप्त की है ॥ ३०-३२

(विद्योपयोगविधौ गुरुः)

१३. नैकमक्षरमध्याप्य गुरूणामुत्तमस्तु यः।
भगवद्दत्तबी०ए०श्च वन्द्यो मे मार्गदेशकः ॥ ३३
सर्वशास्त्रीयपुस्तानां वाचनं श्रद्धया कुरु।
रञ्जकं च करे कृत्वा पश्याश्चर्यकरं फलम् ॥ ३४
ग्रन्थानां षट्शतीमात्रं पठितव्यं भविष्यति।
बुद्ध्या त्वेकाग्रया शास्त्रिन्त्सारमेतत्प्रवच्म्यहम् ॥ ३५

(१३) अपरा विद्या के मेरे एक और गुरु हैं स्वनामधन्य पण्डित श्रीभगवद्दत्त जी बी० ए०। आपने यद्यपि मुझे पढाया तो एक अक्षर भी नहीं, तब भी मेरे

अज्ञानान्धकार को दूर करने में उनका योगदान उपर्युक्त मेरे गुरुओं में किसी से भी कम नहीं है: इन्होंने अधीत विद्या के उपयोग का सही रास्ता जो सुझाया। एक बार मैं अपने मित्र पण्डित श्रीशुचिव्रत लखनपाल के साथ पं० श्रीभगवद्दत्त जी बी० ए० के पञ्जाबीबाग़, दिल्ली, स्थित निवास पर दर्शनार्थ गया। उनके एक परामर्श ने मेरी जीवनधारा का मार्ग निर्धारित कर दिया। उन्होंने कहा — प्रोफेसर साहब, आपने परिश्रम से शास्त्रों का अध्ययन किया है। उनके सम्यग् बोध के लिये लाल पेंसिल लेकर ऋग्वेद से लेकर अद्य यावत् प्रणीत मुख्य ग्रन्थों का पारायण बिना ऊबे हुए, श्रद्धा से और बुद्धि को एकाग्र करके करें। कुछ समय बाद आपको इसका आश्चर्यजनक फल मिलेगा। इसमें आपको ज्यादा परिश्रम नहीं करना है, केवल ६०० (छह सौ) ग्रन्थ पढ़ने होंगे। यह मैं अपने अनुभव का सार बता रहा हूँ॥ ३३-३५

(उपदेशस्य पालनम्)

गुरोरस्योपदेशोऽयं ग्रन्थिबद्धो मया कृतः।
गणमुक्तेश्वरे तीर्थे कस्मिंश्चित्सूर्यसंक्रमे॥ ३६
शास्त्रपारायणस्याथ कृत्वा संकल्पमत्र वै।
स्थितेन घट्ट ऋग्वेद-पाठः प्रारम्भमापितः॥ ३७
कर्मणोऽस्य च साङ्गत्वसिद्ध्यै ब्राह्मणभोजनम्।
श्रद्धया चरणौ स्पृष्ट्वा सदक्षिणमचीकरम्॥ ३८
त्रिभिर्वर्षैः समग्रस्य यथालब्धस्य वाचनम्।
वाङ्मयस्य कृतं पूर्णं नैकवारं ततः कृतम्॥ ३९

उनके इस उपदेश को गुरु का उपदेश मानकर मैंने गाँठ में बाँध लिया और इसका पालन श्रद्धा से किया। पश्चिमी उत्तरप्रदेश के श्रीमद्भागवत में बताए गणमुक्तेश्वर (गढ़मुक्तेश्वर) तीर्थ में किसी संक्रान्ति के प्रातः पत्नीसहित अपने दुपहिये स्कूटर से जाकर गंगा में स्नान के उपरान्त हाथ में जल और अक्षत लेकर यथोपलब्ध शास्त्रों के पारायण का संकल्प लिया। फिर घाट पर बैठकर ऋग्वेद के आदिम ११ (ग्यारह) सूक्तों का पाठ गङ्गा जी को और उनके माध्यम से गङ्गाधर महेश्वर को साक्षात् वहाँ उपस्थित मानकर सुनाकर पारायण का प्रारम्भ किया। उसके उपरान्त कर्म की साङ्गता की सिद्धि के लिये एक ब्राह्मण को भोजन कराकर दक्षिणा प्रदान की। उनके उपदेश के पालन की पूर्ति तीन वर्षों में हुई। अपने ग्रन्थसंग्रह, किरोड़ीमल महाविद्यालय के और दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों, मित्रों के संग्रहों, विश्वेश्वरानन्द शोधसंस्थान (होशियारपुर), संस्कृत

विश्वविद्यालय काशी के विशाल सरस्वतीभवन पुस्तकालय में उपलब्ध ग्रन्थों का पारायण पूर्ण श्रद्धा और मनोयोग से किया। इसके बाद तो वाङ्मय का इस प्रकार पारायण कई बार किया और यह क्रम आज भी चालू है॥ ३६-३९

(उपसंहारः)

गुरवः सर्व एवैते विद्ययाऽपरया मम।
उपदिश्य च सन्मार्गमभ्युदयमचीक्लृपन्॥ ४०
एतेषामुपदेशेन प्रवृत्तौ च प्रवर्तितः।
यात्रेयं सुखतो वृत्ता लोकसंग्रहकाम्यया॥ ४१
अम्बायाः कृपया चैषामुपदेशः श्रमो मम।
सर्वथा सफलौ नूनमभ्युदयप्रमाणितौ॥ ४२

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे एकादशोऽध्यायः॥

इन सभी गुरुओं ने मुझे अपरा विद्या के द्वारा सन्मार्ग का उपदेश करके मेरे अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया। इनके उपदेश से ही मैं प्रवृत्तिमार्ग के कल्याणकारी स्वरूप की ओर प्रवृत्त हुआ। प्रवृत्तिमार्ग पर मेरी जीवनयात्रा बहुत आराम से लोकसंग्रह करते हुए चली है।

इसमें सफलता का कारण १. सब से मुख्य तो जगदम्बा का मुझ पर अनुग्रह है, २. उसके बाद इन गुरुओं के उपदेश हैं और ३. अन्त में मेरा परिश्रम है। इन तीनों के होने में प्रमाण मेरा जो अभ्युदय है, वह है॥ ४०-४२

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में एकादश अध्याय संपूर्ण हुआ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

(शास्त्रपारावारपारायणस्य फलम्)

फलमस्य तथा प्राप्तं यथा ग्रन्थावलिः कृता।
श्रमस्यास्य प्रमाणं वै साफल्यं दर्शयत्यथ॥ १

इस प्रकार शास्त्रपारावार के पारायण का प्रत्यक्ष फल मुझे अनेक ग्रन्थों की रचना के रूप में मिला है। ये ग्रन्थ इस दिशा में किये गये परिश्रम का जीता-जागता प्रमाण हैं और स्वाध्याय की सफलता दिखाते हैं॥ १

(क. प्रकाशिता 12 ग्रन्थाः)

1. आद्या निरुक्तमीमांसा, 2. पाँच'ध्याय निरुक्त के।
3. निरुक्तं छात्रलोकस्य कृतेऽध्यायत्रयात्मकम्॥ २

प्रकाशित ग्रन्थों में १. पहली रचना **'निरुक्तमीमांसा'** है। इस ग्रन्थ ने मुझे देश-विदेश में निरुक्त के साथ इस प्रकार जोड़ दिया कि निरुक्त पर प्रामाणिक कार्य की चर्चा होने पर इस ग्रन्थ का नाम अवश्य लिया जाता है। सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, ने इस ग्रन्थ के आधार पर मुझे पी0 एच्0 डी0 उपाधि से मुक्त करके सीधे डी0 लिट् उपाधि के लिए पञ्जीकृत करके सम्मानित किया। इसके अतिरिक्त, (क) उत्तरप्रदेश सरकार की संस्कृतपुरस्कारसमिति ने उस वर्ष (१९७०) की सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कृति के रूप में डॉ0 भगवान्दास पुरस्कार से और (ख) हरजीमल डालमिया ट्रस्ट, दिल्ली, ने श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार से सम्मानित किया। डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा (होशियारपुर), डॉ0 मेहेंदले, डॉ0 लड्डू (पूना), डॉ0 रामगोपाल (चण्डीगढ़) और डॉ0 मधुसूदन मिश्र (दिल्ली) ने इसकी समीक्षा भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए विभिन्न शोधपत्रिकाओं में प्रकाशित की। इसके अतिरिक्त बहुत से विश्वविद्यालयों ने अपनी उच्चतम उपाधि के पाठ्यक्रमों में इसे सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में सूचीबद्ध किया है।

(२) निरुक्त वेदाङ्ग के पाँच (प्रथम चार और सप्तम) अध्यायों की गंभीर व्याख्या के रूप में लिखित **'निरुक्त के पाँच अध्याय'** पुस्तक में यास्क के निघण्टु और निरुक्त के इस भाग का सम्पादन और अत्यन्त गम्भीर व्याख्या शोधकार्य की प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत किये गए हैं।

३. इसी का एक छोटा छात्रोपयोगी संस्करण भी सन्दर्भों और सन्दर्भग्रन्थों के भार के बिना छात्रों और अध्यापकों के लिये उपयोगी सामग्री को प्रस्तुत करते हुए **'निरुक्त'** के नाम से प्रकाशित हुआ है॥ २

4. वेदवाङ्मय में भाषाचिन्तनं च चतुर्थकम्।
5. तर्कसंग्रहतारोदयाख्यो ग्रन्थस्तु पञ्चमः॥ ३

४. **'वैदिक वाङ्मय में भाषाचिन्तन'** नामक चतुर्थ ग्रन्थ में सब वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों का मन्थन करके उनमें ऋषियों और आचार्यों के द्वारा किये प्रयोगों पर विचार करके तथा परवर्ती भाषाशास्त्रीय अध्ययनों, यथा प्राच्य और पाश्चात्य व्याकरणों, निरुक्त, प्रातिशाख्यों और भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में विवेचन करते हुए अपने निष्कर्ष दिए गए हैं। इसे भी उ0प्र0 की संस्कृतपुरस्कारसमिति ने सम्मानित किया है।

५. अन्नम्भट्ट के 'तर्कसंग्रह' में छात्रों की कठिनाइयों को देखते हुए **'तर्कसंग्रहतारोदय'** नामक पञ्चम ग्रन्थ में न्याय, वैशेषिक दर्शनों की परम्परा को खँगालकर तर्कसंग्रह की विषयवस्तु को शास्त्र के विकास की दृष्टि से प्रस्तुत

किया है। छात्रों और अध्यापकों में इस ग्रन्थ का भी बहुत आदर हुआ है॥ ३

6. सबालप्रबोधिन्युपन्यासश्च तर्कसंग्रहः।

7. षष्ठः, सप्तम एवास्ति गीताभाष्यनवाम्बरा॥ ४

६. मेरे ग्रन्थसंग्रह में भिवानी के आचार्यकुल की कृपा से प्राप्त **तर्कसंग्रह** की पूज्य आचार्यकुल के गौरवपुरुष श्रीवासुदेव जी द्वारा संगृहीत दो प्राचीन टीकाओं की पाण्डुलिपियाँ थी। **'बालप्रबोधिनी'** की एक और **'उपन्यास'** नामक टीका की पाँच पाण्डुलिपियाँ मुझे काशी के सरस्वतीभवन पुस्तकालय में और मिलीं, तो उनके आधार पर तर्कसंग्रह और इन टीकाओं का पाठशोध Higher and Lower Principles of Textula Criticism की दृष्टि से करके **'सबालप्रबोधिन्युपन्यास्तर्कसंग्रहः'** नामक छठा ग्रन्थ प्रकाशित किया।

७. गीता के आद्य दो अध्यायों और इन पर शांकर भाष्य के अनुवाद और व्याख्या सहित एक ग्रन्थ **'गीताभाष्यनवाम्बरा'** नाम से प्रकाशित हुआ। उत्तरप्रदेश की संस्कृत अकादमी ने इस ग्रन्थ को भी पुरस्कृत किया है॥ ४

8. ईशोपनिषदो भाष्यग्रन्थस्य कुसुमाञ्जलिः।

८. इसी प्रकार ईशोपनिषद् तथा उसके शांकरभाष्य पर **'ईशोपनिषद्भाष्यकुसुमाञ्जलि'** नाम से एक विशद व्याख्या भी आचार्य शंकर के हार्द के उत्स को प्राचीन वाङ्मय में खोजकर प्रकाशित की गई है।

9. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्या भवतोषिणी॥ ५
भ्वादिगणस्य टीकेयं विद्वत्स्वान्तसुतोषिणी।
छात्रावस्थाकृतारम्भाऽध्यापकेन समापिता॥ ६

९. एम0 ए0 (पूर्वार्ध) के दौरान १९६० ई0 में साथी छात्रों की कठिनाई को देखते हुए श्रीहंसराज महाविद्यालय, दिल्ली, के छात्रावास में **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** के उत्तरार्ध पर एक हिन्दी व्याख्या लिखनी प्रारम्भ की। १९६१ ई0 में एम0 ए0 उत्तीर्ण करने के पश्चात् आर्यकन्यामहाविद्यालय, कारेली बाग, बड़ौदा (गुजरात) में अध्यापनकार्य के साथ पूज्य पं0 श्रीमणिशंकर वसन्तराम उपाध्याय के श्रीचरणों में काशिका का अध्ययन करते समय इस व्याख्या में उठी समस्याओं पर पूज्य म0 व0 उपाध्याय जी और काशिका के सहपाठी आदरणीय विद्वान् मित्र डॉ0 अरुणोदय न0 जानी से गहन विचारविमर्श का अवसर पाने पर व्याख्या का स्वरूप बहुत गंभीर हो गया तथा कलेवर भी बहुत विशाल बनता दिखाई दिया। १९६२ ई0 के अगस्त मास में दिल्ली आने पर दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में विपुल ग्रन्थराशि उपलब्ध होने पर इस का

कलेवर बहुत ही विशाल हो गया, तो इस भाग को भ्वादि गण तक ही सीमित करके प्रकाशित कराने का निश्चय किया। उस समय न्यास के कुछ स्थलों में पंक्ति न लग पाने पर परमादरणीय महामहोपाध्याय पं0 श्रीपरमेश्वरानन्द जी ने उनके समाधान की बहुत कृपा की। तत्पश्चात् प्राच्य और पाश्चात्य लगभग १७५ (एक सौ पचहत्तर) सन्दर्भग्रन्थों के विवेचन, विश्लेषण से युक्त इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता को लेकर अपने ऊपर विश्वास की कमी के चलते इसे व्याकरण के किसी मूर्धन्य विद्वान् को दिखाने का निश्चय किया। किन्तु राजसी प्रवृत्तियों की महानगरी दिल्ली में ऐसे किसी विद्वान् की कृपा उपलब्ध न हो पाई। तब व्याकरण पर एक सेमीनार में काशी जाने पर वरीयान् सतीर्थ्य, काशी के प्राच्य और नव्य व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान् डॉ0 पं0 श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी ने मेरा ग्रन्थ देखना स्वीकार किया। इसे उन्होंने लगभग तीन वर्ष अपने पास रखा और प्रत्यक्षर खूब गंभीरता से मनन करके अपनी टिप्पणियों तथा सुझावों से पाण्डुलिपि को रँग दिया और इसे **'भवतोषिणी'** नाम डॉ0 त्रिपाठी ने स्वयं दिया। इस ग्रन्थ को दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दीमाध्यमक्रियान्वयन कार्यालय ने प्रकाशित किया है॥ ५-६

10. प्रकाशनामिका व्याख्या महाभाष्यप्रदीपयोः।
प्रथमाह्निकयोर्गूढतत्त्वानां सुविमर्शिनी॥ ७

१०. मेरे ग्रन्थसंग्रह में एक हस्तलेख टिप्पणयुक्त महाभाष्य और प्रदीप का है। आचार्य वासुदेव जी ने एक लिथो पर मुद्रित पुस्तक से बड़े परिश्रम से इसकी प्रतिलिपि कराई थी। इसके हाशिये पर लिखी टिप्पणियाँ, इनके भिन्न हस्तलेख से लगता है कि वे आचार्य वासुदेवजीकृत हों। इस हस्तलेख को पढ़ते समय महाभाष्य और प्रदीप का सम्पादन करने के साथ-साथ इनकी विशद व्याख्या लिखने का विचार हुआ। महाभाष्य के कई संस्करण देखने, परखने के पश्चात् माधवशास्त्री भण्डारी का संस्करण सर्वोत्तम लगा। उसे आधार बनाकर दोनों ग्रन्थों के उसमें सम्पादित तथा टीकाओं में व्याख्यात पाठ का सम्पादन करके प्रथम दो आह्निकों की व्याख्या **'महाभाष्यप्रदीपप्रकाश'** नाम से प्रकाशित की। इसमें नन्दिकेश्वरकारिकाओं की व्याख्या भी तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से की है॥ ७

11. विकासं काव्यशास्त्रस्य पूर्णस्य या प्रबोधयेत्।
महत्त्वं दण्डिनश्चैव काव्यादर्शप्रसादिनी॥ ८
त्रयोऽप्यस्य परिच्छेदास्त्रिषु ग्रन्थेषु रूपिताः।
काव्यशास्त्रस्य दीर्घायाः सरण्या मार्गशोधकाः॥ ९

११. आचार्य दण्डी के पूर्वपुरुष यों तो उत्तरभारत के मूल निवासी थे, पर उनके कोई पूर्वज काञ्ची में बस गए थे। इस प्रकार दण्डी का सम्बन्ध काव्यशास्त्र की दक्षिणभारतीय परम्परा से जुड़ गया। काव्यशास्त्रीय आचार्यों की लम्बी परम्परा में दण्डी का नाम महत्त्व की दृष्टि से भरतमुनि के पश्चाद् आता है। दण्डी के काव्यादर्श ने मुझे बहुत आकर्षित एवं प्रभावित किया। उस पर तीन भागों में **'प्रसादिनी'** नामक टीका लिखी। इस टीका में काव्यशास्त्र की भरत से लेकर शोभाकरमित्र (14वीं शती ई0) तक की लम्बी कालयात्रा का विवेचन, विश्लेषण करके काव्यशास्त्र में दण्डी के अवदान को और उनके आदान-प्रदान को निर्धारित करके स्पष्ट किया गया है॥ ८-९

12. श्रीमच्छंकरपादानां सुप्रश्नोत्तरमालिका।
हिन्दीकाव्याङ्गलोभाषाऽनुवादेन प्रकाशिता ॥ १०

१२. भिवानी आने पर पौष शुक्ल सप्तमी, बृहस्पति वार 2059 वि0 को जगद्गुरु शंकराचार्य की कृति **प्रश्नोत्तर-रत्न-मालिका** का हिन्दी काव्यानुवाद और आङ्ग्लभाषानुवाद शुरु किया। वह 15.6.2004 को प्रकाशित हुआ है॥ १०

(एतेषां विदद्भिरादरः कृतः)

इमे प्रकाशिता ग्रन्था एभ्यो विद्वद्भिराशिषः।
मुक्तकण्ठेन मे प्रोक्ताः नैकशश्च पुरस्कृताः॥ ११
देशे विदेशे यत्रापि संस्कृताध्ययने रुचिः।
स्वाध्यायिनश्च विद्वांसः शास्त्रसंरक्षणे रताः॥ १२
तत्रैते स्निग्धया दृष्ट्या पठ्यन्ते स्मितपूर्वकम्।
गुरुकृपाऽत्र हेतुश्च मय्यम्बायाः कृपालुता॥ १३
अन्यथा कथमेतावद्विपुलं शास्त्रसेवनम्।
नूनं पुण्यानि भूयांसि ममाभ्युदयकारणम्॥ १४

अपरा विद्या के गुरुओं के उपदेश की फलवत्ता को भली-भाँती प्रकाशित करने के लिये ये प्रकाशित ग्रन्थ प्रमाण के रूप में हैं। देश, विदेश में जहाँ कहीं भी संस्कृताध्ययन में रुचि है, वहाँ के विद्वानों ने इन्हें मन्द मुस्कान के साथ प्रेम से पढ़ा और इनके लिये मुझे मुक्त कण्ठ से आशीर्वाद दिये और अनेकों बार पुरस्कृत भी किया। इन्हीं में चार कड़ी हैं :- (१) दिल्ली संस्कृत अकादमी के अध्यक्ष (दिल्ली के उपराज्यपाल) द्वारा मेरे कार्य को **'संस्कृतसेवासम्मान'** से, (२) सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वारा प्रातः स्मरणीय **श्रीहरिहरानन्दसरस्वती (करपात्र) स्वामी पुरस्कार** से और (३) महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेदविद्याप्रतिष्ठान, उज्जयिनी (म0प्र0) द्वारा १४.०८.२००३ को **निरुक्त**

वेदाङ्ग के अध्येता के रूप में, (४) सांस्कृतिक मञ्च, भिवानी, द्वारा **'सरस्वतीसम्मान'** से सम्मानित करना। इन सब में गुरुओं की कृपा और जगदम्बा की मुझ पर दयालुता ही कारण हैं। दोनों बातें पुण्यों के बिना सम्भव नहीं हैं। अगर ऐसा नहीं होता, तो इतने विशाल वाङ्मयराशि की सेवा कैसे सम्भव हो पाती ? ११-१४

(ख. अप्रकाशिता १० ग्रन्थाः)

दशाप्रकाशिता ग्रन्थाः प्रतीक्षन्ते प्रकाशनम्।
धैर्यं मे च परीक्षन्ते श्रद्धां स्वाध्यायकर्मणि॥ १५
वर्षाण्येकादशेतः प्राङ् मासे नवंबराह्वये।
दैवयोगेन वामाङ्गं निष्क्रियं मधुमेहतः॥ १६

इनके अतिरिक्त दस ऐसे ग्रन्थ लिखे रखे हैं, जिनका प्रकाशन अभी नहीं हो पाया है और प्रकाश पाने की प्रतीक्षा में हैं। वस्तुतः ये स्वाध्याय के प्रति मेरे धैर्य और निष्ठा की परीक्षा कर रहे हैं। १९९१ ई0 के नवम्बर मास में दैवदुर्विपाक से मधुमेह के कारण पहले शरीर के बाएँ हिस्से में अधरँग रोग से और फिर मस्तिष्कस्राव के कारण दस दिन कॉमा में (मूर्च्छित) रहने के पश्चात् विकलाङ्गता तथा कुछ स्मृतिभ्रंश हो गए। १५-१६

किञ्चित्स्वास्थ्यं समापन्नो बलं बुद्धेः परीक्षितुम्।
1. कौमुद्या नवगण्याश्च प्रारप्सि भवतोषिणीम्॥ १७
षड्भिर्मासैः कृता सेऽयं गम्भीरा भ्वादितोऽपि च।
धातुपाठीयपुस्तानां सारार्थसुविवेचनी॥ १८

१. कुछ स्वस्थ होने के पश्चात् अपनी बौद्धिक सामर्थ्य की परीक्षा के लिये सिद्धान्तकौमुदी के शेष नौ गणों पर 'भवतोषिणी' को आगे बढ़ाना शुरू किया, तो मात्र छह मास में **'भ्वादिभवतोषिणी'** से भी अधिक गंभीर **'नवगणीभवतोषिणी'** तैयार हो गई॥ १७-१८

2. व्याकृत्यास्वादवेत्त्री मे बुद्धिर्भाष्ये प्रवर्तिता।
कर्तुं ततोऽपि गम्भीरं कार्यं किञ्चिन्महाफलम्॥ १९
भाष्यप्रदीपयोर्व्याख्या ममाग्रे च प्रवर्धताम्।
इति कृत्वा मतिं तत्र व्याख्यं चैवाह्निकद्वयम्॥ २०
संप्राप्य दीपिकाग्रन्थांस्तामप्याख्यं प्रतीक्षते।
प्रकाशो द्विविधः सोऽयमाह्निकयोः प्रकाशनम्॥ २१

२. इसके बाद व्याकरण का रस मन को लगने पर **'महाभाष्यप्रदीपप्रकाश'** का कार्य आगे बढ़ाने का विचार करके भाष्य के तृतीय और चतुर्थ आह्निकों की

व्याख्या का कार्य मात्र साढ़े चार महीने में प्रथम भाग की अपेक्षा और भी गम्भीर रूप में सम्पन्न हो गया। इस दौरान आदरणीय प्रो0 हर्षकुमार, सेंट स्टिफेन्स महाविद्यालय, दिल्ली, के सौजन्य से हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी से प्रकाशित और फिर पूना से प्रकाशित 'दीपिका' मिल गई। प्रकाश के इस भाग में 'दीपिका' को भी सम्मिलित कर लिया गया और **'महाभाष्यदीपिकाप्रदीपप्रकाश'** के रूप में द्वितीय भाग प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा है॥ १९-२१

अल्पीयसे कृता सेवाऽङ्गानां भवति ध्रुवम्।
मत्वेति मित्रसम्मत्या वेदे यत्नाय वर्तितः॥ २२

3. **तत्रर्ग्वेदस्य भाष्यं यत् सायणीयं धियः कषः।**
हिन्द्या तस्यानुवादाय संहितायाश्च घट्टितः॥ २३
मासैश्चतुर्भिरध्यायमाद्यं व्याख्यं परिश्रमात्।
उभयोरपि पाठश्च समपादि विशेषतः॥ २४

३. इसके पश्चाद् भोगीलाल साँडेसरा प्राकृत शोध संस्थान, दिल्ली, में किसी सेमीनार के दौरान मित्रों डॉ0 प्रेमसिंह और श्रीसोमराज गुप्त की राय हुई कि अङ्गों (व्याकरणादि) की सेवा का फल अङ्गी (वेद) की सेवा से कम है। इसे ध्यान में रखकर ऋग्वेदसंहिता के बुद्धि की कसौटी रूप सायणभाष्य का हिन्दी में अनुवाद करने की बात मन में आई, तो अगले ही दिन से उस पर कार्य प्रारम्भ कर दिया। चार मास के श्रम से उसके भी प्रथम अध्याय का कार्य सम्पूर्ण हो गया। इस कार्य में ऋग्वेदसंहिता का सम्पादन एक अपनी विशेषता है: ऋग्वेदसंहिता में उपलब्ध संस्करणों के पाठ में जहाँ छन्दों-भंग होता है, उन स्थलों को तारकचिन्ह से अंकित करके उनके कारणों की समीक्षा के साथ उन पाठों के औचित्य पर विचार किया गया है। सायणभाष्य के पाठ का सम्पादन भी इस प्रकार किया गया है कि उसका स्वरूप सहज बोधगम्य हो गया है॥ २२-२४

4. **आरक्षणकृता हिंसा सर्वं देशमजीज्वलत्।**
तत्र दोषश्च विप्रेषु धर्मशास्त्रे विशेषतः॥ २५
पातितस्तमथो दृष्ट्वा किञ्चित्कर्तुं व्यचारयम्।
धर्मशास्त्राणि लोकस्य क्रियन्ते पुरतो यदि॥ २६
देशं कालं च पात्रं च प्रविचार्य विशेषतः।
सामाजिकविकासस्य प्रस्तुयां स्पष्टचित्रणम्॥ २७
ज्वलन्त्यो याः समस्याश्च तासां कुर्यां विवेचनम्।
इति मत्याऽनुवादश्च हिन्द्या द्वाविंशतेः कृतः॥ २८

४. इसी दौरान आरक्षण के मुद्दे को लेकर देश में भयंकर बवंडर मचा और देश की जनता का एक बहुत बड़ा वर्ग भारत की प्राचीन धर्मशास्त्रपरम्परा को जातीयता के विष का स्रोत मानकर 'मनुवादी', 'ब्राह्मणवादी' जैसे शब्दों का प्रयोग दोषदृष्टि से करने लगा। इसकी तह में जाने के लिये (क) भारत की सामाजिक चिन्तनपरम्परा की अद्यतन स्थिति तक का प्रामाणिक लेखा-जोखा लेने के लिये धर्मशास्त्रों के मूल के साथ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करके, (ख) आज की ज्वलन्त समस्याओं पर ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से ग्रन्थों के रूप में विचार करने की योजना बनाकर उपलब्ध धर्मशास्त्रों में से अनतिदीर्घ किन्तु प्राचीन २२ स्मृतियों का हिन्दी अनुवाद भी चार मास में प्रस्तुत किया हुआ प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा है॥ २५-२८

5. शब्दानुशासनाधारं शिक्षावेदाङ्गनामकम्।
अविदित्वैव विद्वांसो व्याकृतौ कुर्वते श्रमम्॥ २९
अभ्यस्यन्तस्तथा वेदमन्यथा ते पठन्ति च।
सुलभञ्चाङ्गमेतत्स्याद् ध्वनिविज्ञानवेदिनाम्॥ ३०
इत्यांगलभाषया ग्रन्थो मूलेन सह संस्कृतः।
भोलानाथतिवारीति मित्रेणेह प्रचोदने॥ ३१

५. वेदपाठ की पारम्परिक पद्धति में तथा संस्कृतभाषा के उच्चारण में नई पनपी कुछ प्रवृत्तियाँ शास्त्रसम्मत नहीं हैं। विशेषकर इनके कारणों और विकास पर आज के विद्वानों की दृष्टि शिक्षा वेदाङ्ग का सम्यग् ज्ञान न होने से नहीं जाती। इस पर विचार करने के लिये आदरणीय मित्र डॉ0 भोलानाथ तिवारी की प्रेरणा से कभी शिक्षावेदाङ्ग के ४० के लगभग ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद प्रारम्भ किया था। Ancient Indian Phonetics (**प्राचीन भारतीय ध्वनिविज्ञान**) के नाम से इसके तीन भाग भी प्रकाशित होने की बाट जोह रहे हैं॥ २९-३१

6. दृष्ट्याऽऽधुनिकया कार्यं स्मृतीनां तु विवेचनम्।
मनुस्मृतेर्विचिन्त्येति व्याख्यानं प्रकृतं तु यत्॥ ३२
पूर्णोऽर्धभाग एवास्य प्रकाशनमपेक्षते।
यतिष्ये पूर्तये तस्य लोकानां हितकाम्यया॥ ३३

६. छात्रों को पढ़ाते समय मेधातिथि, कुल्लूक भट्ट आदि की दृष्टि से सहमत न होने के कारण मनुस्मृति की व्याख्या नई दृष्टि से करने के संकल्प का परिणाम अभी अधूरा ही पड़ा है॥ ३२-३३

7. अन्नम्भट्टस्य विज्ञस्य ग्रन्थे श्रीतर्कसंग्रहे।

प्राचीनास्तत्र काश्चिद्वा अर्वाचीनाश्च मामिका॥ ३४
टीकाः षोडश संख्याकाः सम्पाद्य स्थापिता मया।
राष्ट्रसंस्कृतसंस्थानेनानुदानं प्रतिश्रुतम्॥ ३५
कालेन किन्तु तद्ग्रन्थमुद्रणे प्राभवं नहि।
तर्कसंग्रहटीकानां स्तबकं तत्प्रतीक्षते॥ ३६

७. तर्कसंग्रह की लोकप्रियता को देखते हुए इसकी विशाल टीकापरम्परा में से पुरानी और नई पन्द्रह टीकाएँ एकत्र करके उनमें अपनी भी एक टीका जोड़कर **'तर्कसंग्रहटीकास्तबकम्'** ग्रन्थ पर राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, ने अस्सी प्रतिशत का प्रकाशनानुदान स्वीकृत किया था। समय पर ग्रन्थ न निकल पाने के कारण यह विशाल ग्रन्थ भी प्रकाश की प्रतीक्षा में है॥ ३४-३६

8. हरेर्नीतिशतव्याख्या संस्कृतेन कृता तु या।
गम्भीरार्थप्रबोधाय साऽद्याप्यस्त्यप्रकाशिता॥ ३७

८. भर्तृहरि का 'नीतिशतक' बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ है। उस पर यों तो कई संस्कृत टीकाएँ हैं, पर 'विद्वन्मनोरञ्जनी' ही है, जो बहुत गम्भीर है। पर इसमें भी आधुनिक दृष्टि नहीं है। इसकी पूर्ति के लिये लिखी संस्कृतव्याख्या भी अभी अप्रकाशित है॥ ३७

9. विश्वविद्यालयेष्वत्र वेदाध्यापनकर्मणि।
मतसंग्रहमात्रेण दृष्ट्वा तुष्टानधीतिनः॥ ३८
सम्यग्वेदार्थबोधाय प्रावर्तिषि च लेखने।
आप्लावेन क्षतोऽप्येष पुनः संस्कारमापितः॥ ३९
नेयः प्रकाशयोग्यत्वमल्पेनैव श्रमेण सः।
कृपां चेदम्बिका कुर्यादुपकुर्यादधीतिनः॥ ४०

९. दिल्लीविश्वविद्यालय तथा अन्य विश्वविद्यालयों में वेद पढ़ाते समय पुस्तकों में और अध्यापकों द्वारा शब्दों की विविध व्याख्याओं के संग्रह पर ही बल दिया जाता है। इससे छात्रों को वेदार्थ का समग्र ज्ञान नहीं हो पाता। यह देखकर ऋग्वेद के कक्षाओं में प्रायः पढ़ाए जाने वाले सूक्तों की व्याख्या अपने अनुभव के आधार पर नई दृष्टि से लिखनी शुरू की थी। दिल्ली में आई भीषण बाढ़ में क्षतिग्रस्त होने पर भी अगर जगदम्बा कृपा करें, तो वह थोड़े श्रम से प्रकाशन के योग्य की जा सकती है॥ ३८-४०

10. वरदराजीयकौमुद्यां लघ्व्यां सूत्रसमुच्चयः।
मात्रया यया च तावत्या भूयसामनुशासनम्॥ ४१

शक्यते कर्तुमित्येतद्विचार्य बालकौमुदी।
धियाऽनया कृता तस्याः पूर्वार्धं प्रस्तुतं त्विह॥ ४२
एवमेवोत्तरार्धं च मया कर्तुं मनीषितम्।
शिष्याध्यापकवृन्दाय सेयं स्याद्धितकारिणी॥ ४३

१०. वरदराजाचार्यकृत 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में लगभग १४०० (एक हजार चार सौ) सूत्र हैं। इतने ही सूत्रों से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक शब्दों की सिद्धि की जाए, इस दृष्टि से अध्यापनकाल में **'बालकौमुदी'** नामक एक व्याकरण ग्रन्थ की योजना बनाकर उसका पूर्वार्ध तैयार करके छात्रों को पढ़ाया था। विचार है कि उसी पद्धति से उत्तरार्ध तैयार करके इसे प्रकाशित किया जाए। यह ग्रन्थ छात्रों और अध्यापकों का भाषाज्ञान में बहुत हित कर सकता है॥ ४१-४३

(भिवानीमागत्य कृता ग्रन्थाः)

1. **दुर्गातत्त्वविमर्शोऽयं वर्षासु नवरात्रके।**
कथाप्रसंगतो जातः किरोड़ीमलमन्दिरे॥ ४४
दुर्गासप्तशतीव्याख्या प्रतीकार्थस्य बोधिनी।
प्रस्तुता, कीदृशी चेयं, बोधयिष्यन्ति याजकाः॥ ४५
यजमानाश्च येभ्यो वै मयाऽकारि परिश्रमः।
सर्वथा विप्रभावोऽहं तत्रैवापि च शिक्षकः॥ ४६
समाजः सर्वथा शिक्ष्य इति मे भावना तु माम्।
समाजहितकार्याय प्रयोजयति सम्प्रति॥ ४७

१. वर्षाकालीन नवरात्र के अवसर पर श्रीरामसहाय वेदवेदाङ्ग विद्यालय, भिवानी, के छात्रों को चण्डीपाठ का प्रायोगिक ज्ञान कराने के लिये श्रीयशपाल शास्त्री के आचार्यत्व में आयोजित अनुष्ठान में ११ जुलाई २००२ से १८ जुलाई २००२ तक प्रतिदिन रात को 'श्रीदुर्गासप्तशती' के मर्म का ज्ञान कराने के लिये मैंने कथा की थी। उसी का लिखित रूप यह **'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श'** ग्रन्थ है। यह कैसा है, यह तो पण्डित लोग तथा प्रबुद्ध श्रद्धालु बतालाएँगे। यह परिश्रम मैंने इन दोनों वर्गों के लिये ही किया है। मेरा स्वभाव ब्राह्मण का है तथा मानसिकता से मुझे शिक्षा देना प्रिय है। मेरी भावना पूरे समाज को संस्कारों की शिक्षा देने की है। इसी भावना से प्रेरित होकर मैं समाज की सेवा के कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ॥ ४४-४७

सत्यनारायणीया च कथा लोके प्रवर्तते।
श्रद्धा तत्र जनानां वै तत्त्वार्थो न तु बोध्यते॥ ४८
काश्यामध्ययनेनाहमश्रौषं च कृता पुरा।

कुबेरनाथशुक्लस्य करपात्रेण स्वामिना॥ ४९
भावोऽयं स्मृतिमारूढो वर्षे मातुरशीतिमे।
तत्त्वं तत्र मयाख्यातं गृहे जन्मदिने मम॥ ५०
लिखितेयं कथा ह्यत्र प्रकाश्या चाचिरात् पुनः।
नूतना दृष्टिरस्त्यत्र समाजप्रेरणाय मे॥ ५१

२. देश में 'सत्यनारायणव्रतकथा' का प्रचलन बहुत है। लोगों की इसमें बहुत श्रद्धा है। पर कोई कथावाचक इसका मर्म नहीं बतलाता है। १९५६ ई0 में अध्ययनार्थ काशी जाने पर चर्चा सुनी कि सनातनधर्मियों के परमश्रद्धेय स्वामी करपात्री जी ने राजकीय संस्कृत कालेज के प्रधानाचार्य पं0 श्रीकुबेरनाथ शुक्ल के आवास पर सत्यनारायण कथा का उपदेश विद्वानों की उपस्थिति में लगभग एक-डेढ घण्टे किया था। उस समय तो यह बात समझ में नहीं आई। पर वैशाखपूर्णिमा १५ मई १९९५ को माँ के अस्सी तथा मेरे ५७ वर्ष पूरे होने पर किये उत्सव में सत्यनारायणव्रतकथा पर प्रवचन किया, तो इसका महत्त्व समझ में आया। आज समाज में सर्वत्र असत्य ही असत्य छाया हुआ है। ऐसे में इस कथा का सन्देश पूरे समाज के लिये बहुत आवश्यक है। इसे बताने के लिये **'श्रीसत्यनारायणव्रत-कथाकाव्य'** नाम से एक पुस्तक शीघ्र प्रकाशित होने वाली है॥ ४८-५१

3. ऋग्वेद आदिमो ग्रन्थो, ज्ञातो मानवसंस्कृतौ।
भाष्यमस्य कृतं हिन्द्या, काव्यरूपेण सम्प्रति॥ ५२
ऋग्वेदसंहितायाश्च, कृतं संपादनं धिया।
वैशिष्ट्यं किंचिदाधत्तामिति यत्नो मया कृतः॥ ५३

3. मानवसंस्कृति के इतिहास में ऋग्वेद प्रथम ग्रन्थ के रूप में ज्ञात और उपलब्ध है। 16.1.2003 की रात के 9:21 पर इसका हिन्दी काव्यभाष्य प्रारम्भ किया था जो अब सम्पूर्ण हो चुका है॥ ५२-५३

(पश्चिमप्रभावेण संस्कारलोपः)

संस्कृतिः सभ्यताऽवाच्यौ सर्वं दूषयतो जगत्।
भारतीयाश्च संस्काराः सभ्यताऽपि प्रदूषिताः॥ ५४
संविधानं तथास्माकं शिक्षानीतिः प्रशासनम्।
प्रचारमाध्यमं सर्वं पाश्चात्त्याधारितानि वै॥ ५५
संस्कारा विकृताः सर्वे विश्वासो न च तत्र वै।
परम्परारक्षणेनैव जनाः कुर्वन्त्यनास्थया॥ ५६

पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति सारे विश्व को दूषित कर रही हैं। ऐसे में भारतीय संस्कार और सभ्यता भी दूषित हो गए हैं। हमारे संविधान, शिक्षानीति, प्रशासनव्यवस्था और प्रचार के दृश्य-श्रव्य सारे माध्यम पश्चिमी जीवनदर्शन पर आधारित हैं। ऐसे में हमारे सारे प्राचीन संस्कार, जो हमारे स्वभाव से विकसित हुए थे, आज विकृत हो गये हैं। लोगों की इनमें आस्था नहीं रह गई है। लोग इसका अनुष्ठान केवल रीत निबाहने के लिये करते हैं। इनमें लोगों की श्रद्धा नहीं रह गई है॥ ५४-५६

(कर्मकाण्डिजनोऽप्यत्रोदासीनः)

कर्मकाण्डिजनाः प्रायो वृत्त्यर्थं कर्म कुर्वते।
हितं नहि समाजस्य दृष्टौ तेषां च विद्यते॥ ५७
मन्त्राणां स्मरणं सम्यङ् नार्थबोधस्तु दूरतः।
मन्त्रस्य विषयं लिङ्गं, विनियोगं च कर्मणि॥ ५८
पण्डिता अपि नो विद्युः, शिष्यवर्गस्य का कथा।
अपेक्षितमुपेक्षन्ते निषिद्धेषु च तत्पराः॥ ५९

इस आस्था को बनाने की जिम्मेदारी जिस वर्ग पर है, वह कर्मकाण्डी वर्ग भी पूजा-पाठ, उपदेश आदि केवल आजीविका के रूप में करते हैं। इनमें उन की भी आस्था वस्तुतः नहीं है। समाज का हित तो उनकी दृष्टि में है ही नहीं। उन्हें मन्त्र ठीक से याद नहीं होते। अर्थबोध का तो कोई कहीं प्रश्न ही नहीं है। मन्त्रों का क्या विषय है और उनका किस कर्म से सम्बन्ध है, इस बात को पण्डित लोग भी नहीं जानते, तब शिष्यों और यजमानों को तो यह ज्ञान होगा ही कहाँ से ? ये लोग शास्त्र में जिसका निषेध है, वह तो करते हैं, क्योंकि लोग स्वाध्याय में रुचि न होने से विधि और निषेध को जानते ही नहीं है। और जो बात कर्मों में अपेक्षित होती है, उन्हें नहीं करते। उदाहरणार्थ :- (क) नवग्रहपूजा के वैदिक के रूप में प्रयुक्त मन्त्रों को लें। इनका सूर्य के मन्त्र को छोड़कर, बृहस्पति का भी नाममात्र ही समान है, किसी का भी इन ग्रहों से कोई सम्बन्ध नहीं है। (ख) इसी प्रकार दूध, दही, मधु आदि से स्नान आदि पूजोपचारों में प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों का उस विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। (ग) हाथ से स्वरनिर्देश का सीधा सम्बन्ध स्वरविशेष के उच्चारण से होना चाहिये — **यथा वाणी तथा पाणिः** (याज्ञवल्क्यशिक्षा)। परन्तु वाणी से उदात्तादि का उच्चारण प्रायः कोई जानता ही नहीं है। इसी प्रकार अन्य बहुत-सी बातें हैं, जो पौरोहित्य कर्म में बिना विचारे, बिना आधार के, हो रही हैं॥ ५७-५९

(संस्कारा नाममात्रशेषाः)

अज्ञः पण्डितवर्गोऽयं, यजमानस्य का कथा।
विवाहो नाम संस्कारो क्रियते च यथाकथम्॥ ६०
प्रायेणाश्रद्धया लोके रीतिनिर्वाहमात्रतः।
विहितं संविधानेन, चेति सर्वे प्रकुर्वते॥ ६१.
यज्ञोपवीतसंस्कारो, व्रात्यानां तु विधीयते।
कारयन्ति च संस्कारं, लज्जा तेषां न विद्यते॥ ६२

जब पण्डित लोग ही कर्मकाण्ड को सही ढंग से नहीं जानते, तब यजमान तो जानेंगे ही कहाँ से! 'विवाह' नामक संस्कार भी जैसे-तैसे जल्दबाजी में सम्पन्न किया जाता है। लोगों की संस्कार की पवित्रता में कोई श्रद्धा नहीं है, न यजमान की, न पण्डित की। केवल (१) रीति को निभाने के लिये और (२) कानूनी आवश्यकता होने के कारण विवाहसंस्कार सम्पन्न किया जाता है। आज ब्राह्मणों में जनेऊ संस्कार भी शास्त्र की व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत संस्कार्य के व्रात्य (संस्कार के अयोग्य, पतित) हो जाने पर कराया जाता है। यह शास्त्र के किस विधान से किया जाता है, यह कराने वाले पण्डित ही बता सकते हैं। पर यज्ञोपवीत संस्कार शास्त्र-विरुद्ध रूप में कराने में किसी पण्डित को कोई संकोच नहीं होता॥ ६०-६२

(एतदुपायस्य चिकीर्षा)

3. विचिन्त्येति चिकीर्षामि नूत्नामुद्वाहपद्धतिम्।
शास्त्रदृष्ट्या विशुद्धां तु सम्यङ् मन्त्रादिसंयुताम्॥ ६३
कालानुकूलां लोकस्य शास्त्रे श्रद्धाकरीं पुनः।
शीघ्रं प्रकाशनं चास्या मयकाऽस्ति चिकीर्षितम्॥ ६४
एवमेव तथा लेख्या कर्मान्तरस्य पद्धतिः।
दृश्यश्रव्यविधानेन संस्कारध्वनिरूपणम्॥ ६५
चिकीर्ष्यते च शिक्षार्थं यजमानर्त्विजां हिते।
भावं मे सफलं कुर्यान्माता लोकहितैषिणी॥ ६६

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे द्वादशोऽध्यायः॥

यह विचार करके संस्कारों का महत्त्व समाज में स्थापित करने के उद्देश्य से संस्कारों के पद्धतिग्रन्थ शास्त्र की मर्यादा और समय की आवश्यकता में संतुलन स्थापित करके प्रस्तुत करने की योजना के तहत नूतन विवाहपद्धति तथा

अन्य कर्मों की पद्धतियाँ तैयार करके शीघ्र ही पुस्तकों और ऑडियो-विडियो कैसेटों के रूप में तैयार करने का विचार है। इनका उद्देश्य कर्मकाण्डी पण्डितों और यजमानों को कर्म का सही स्वरूप और उद्देश्य समझाना है। जगत् का हित करने वाली जगदम्बा मेरी भावना को सफल करे, यह कामना है॥ ६३-६६

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में द्वादश अध्याय संपूर्ण हुआ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

(मङ्गलम्)

जगदम्ब नमोऽस्तु ते, करुणा मयि भूयसी।
अश्मेव जडोऽप्यहं, गुरुचेतनतामितः॥ १
ब्राह्मण्यं प्रापितः पुण्ये, मार्गे सारस्वते कृतः।
तत्रापि चातिदीनेऽस्मिन्, गुरवश्च कृपालवः॥ २
गृहसौख्यं मनाङ् नोऽपि मुहू रोगादिकारणात्।
प्रवर्त एव मार्गेऽस्मिन्त्सर्वसौख्यविधायिनि॥ ३
इतोऽपि च परो भावो, मयि स्यादम्बिके, तव।
इति संप्रार्थये भूयः शिशुरेव तवाऽस्म्यहम्॥ ४

जग की माँ हे, नमन तुम्हें हो, करुणा मुझ पर बहुत तुम्हारी।
पत्थर-सा भी जड़ मैं तुमने, उत्तम चेतन मनुज बनाया॥
ज्ञानउपासन वृत्ती दीन्ही, पुण्य सुरस्तीं के मारग पर।
मुझे चलाया, तिसपर गुरुजन, मेरे जैसे दीन-हीन पर॥
बहुत कृपालू हैं सब मेरे, घरनी, घर का सुख न मिला है।
इसका कारण आधी व्याधी, जिससे इनमें बँधा नहीं मैं॥
हुआ प्रवर्तित सब सुखदाई, मङ्गलमय इस मारग पर मैं।
बहुत तुम्हारी कृपा रही है, मेरे जैसे दीन पुत्र पर॥
इससे भी तुम अधिक कृपालू, मुझ पर होवो मात भवानी।
यही प्लाथना कलता फिल-फिल, छिछु मैं तुम्हला प्याला बालक॥ १-४

अहो पुण्यानि मे नूनं, पूर्वजानां यदाशिषः।
अम्बाया मयि या चैषा बालके महती स्वता॥ ५
सर्वशुद्धे तु तैरेव प्रावर्तिषि शुभे पथि।
नश्येतांशोऽपि मोहस्य, देह-दैहिकरागकृत्॥ ६

बद्धः सर्वोऽपि लोकोऽयं, रज्ज्वा स्याद्धि यथा पशुः।
रमते येन देहादौ, प्लवते भवसागरे॥ ७

निश्चय मेरे पुण्य बहुत हैं, पुरखों की हैं आसीस बहुत।
माता की मुझ बालक पर है, महती ममता, जो ये इनने॥
सबने मिल कर मुझे चलाया, सबविध स्वच्छ सुमङ्गल पथ पर।
थोड़ा भी जो अंश मोह का, ममताऽहन्ता राग बढ़ाता॥
नाशित होवे वह ये मेरा, बँधी हुई ये सारी दुनिया।
मोहपाश से पगहे से ज्यों, बँधे हुए ये ढोर जिनावर॥
जिसके कारण रमे देह में, ममताभाव बँधा ये जन्तू।
उतर डूबता गोते खाता, भवसागर की है लहरों में॥

(परविद्यागुरवः)

निवृत्तौ मां तु ये चैव, प्रावीवृतन्मनीषिणः।
निःश्रेयसस्य निःश्रेणीं, गुरवो माऽध्यरूरुपन्॥ ८
आशीर्भिश्चैव तेषां वै प्रवर्तेऽत्र सुखेन यत्।
अपि क्लिष्टोऽपि मार्गोऽयमृजुकः सुतरां कृतः॥ ९
धर्मार्थकामाः सिद्धा मे, पूर्वं गुरुकृपावशात्।
मोक्षमार्गोऽपि नो क्लिष्टो, जगदम्बाऽङ्कवासिनः॥ १०
येषां च कृपया सोऽयं, मोक्षमार्गः सुखावहः।
कथन्नु वाऽहमेतेषामृणं निर्यातयाम्यथ॥ ११
आदितो वृद्धतां यावत्संस्कारा मे प्रापिता धियम्।
तन्नामानि लिखाम्यत्र पुण्यस्मृतिर्हि पुण्यदा॥ १२

जिन चिन्तनशील गुरुओं ने मुझे निवृत्तिमार्ग पर चलाया, उन लोगों ने मुझे परमकल्याण की सीढ़ी पर चढ़ा दिया। मैं उनकी आसीसों से इस मार्ग पर आराम से चल रहा हूँ। उन गुरुओं ने इस मार्ग को अत्यन्त सरल बना दिया। अपरा विद्या के गुरुओं ने मेरे लिये धर्म, अर्थ और काम को सिद्ध कर दिया। जगदम्बा की गोद में शिशुभाव से रहने वाले मेरे लिये मोक्ष की डगर भी कठिन नहीं लगती। जिन लोगों की कृपा से मुझे ये मोक्ष की राह आसान हो गई है, उनके ऋण को मैं किस प्रकार चुका सकता हूँ? मेरे बचपन से लेकर बुढ़ापे तक जिन्होंने मेरी बुद्धि को संस्कारयुक्त किया है, उन गुरुओं का पुण्यस्मरण मैं यहाँ कर रहा हूँ, क्योंकि पुण्यवान् लोगों का स्मरण भी पुण्यकारी होता है॥ ८–१२

(1) जन्ममन्त्रगिरां दानैराद्यो गुरुः पिता मम।
तुलसीरामसत्पुत्रः सरजाँयास्तु गर्भगः॥ १३
श्रीनिवासेति सत्संज्ञः श्रीनिवासस्तु वस्तुतः।
भक्तिमार्गेऽकरोन्मां स, करे दत्त्वा तु तर्जनीम्॥ १४
विनयं प्रापितः सम्यक्, पुराणैतिह्यमार्गतः।
श्रीमद्भागवताभ्यासमिषेणाहं प्रवर्तितः॥ १५

(१) संसार में लाने से, उचित वयस् में उपनयनसंस्कार के द्वारा गायत्री मन्त्र का उपदेश करके, व्याकरण तथा निरुक्त पढ़ाकर और संस्कृत भाषा सिखाकर मेरी बुद्धि के अन्धकार को हटाने वाले पहले गुरु मेरे पिता हैं। ये श्रीतुलसीराम शर्मा के पुत्र और सरजाँ देवी के पुत्र थे। इनका नाम ही 'श्रीनिवास' नहीं था, ये व्यवहार में भी श्री के निवास थे। इन्होंने ही डराने-धमकाने आदि क्रोधादि के व्यञ्जक कार्यों को सम्पन्न करने वाली अपनी तर्जनी अंगुली को मुझे पकड़ाकर, मेरे नियन्त्रण में देकर[1], मुझे इन कार्यों के विपरीत भक्ति के, विनय के, मार्ग पर चलाया। उन्होंने बहुत बचपन में ही इतिहास (वाल्मीकीय रामायण और महाभारत) एवं पुराण (श्रीमद्भागवत) के पारायण करवाने के माध्यम से मुझे ये संस्कार दिये॥ १३-१५

(2) श्रीहरिरामभाडाश्च द्वितीयो मे गुरुस्त्विह।
उपादिक्षत्प्रयोगं मे भागवतस्य यः पुनः॥ १६
अभ्युदयफलस्यायं परोपायो ममाभवत्।
मनसः काममाकूतिं वर्षाणि यो ह्यसीषधत्॥ १७
कदाचित्संकटं प्राप्तं जगदम्बायास्तपोमयीम्।
साधनामुपदिश्यासावगमयत्परं गुरुम्॥ १८

(२) निवृत्तिमार्ग पर चलाने में मेरे दूसरे गुरु पूज्य पण्डित श्रीहरिराम भाडा जी थे। इन्होंने मुझे (क) श्रीमद्भागवत का सकल कामना सिद्ध करने वाला एक प्रयोग बताया। मेरे लिये उसका अनुष्ठान मेरे अभ्युदय (धर्म, काम और अर्थ) की सिद्धि का रामबाण उपाय सिद्ध हुआ। इस उपाय ने बरसों तक मेरे मन की इच्छाओं और तदनुकूल चेष्टाओं को सिद्ध किया। (ख) किसी समय एक

1. नीतिशास्त्र में कहा है — **लालयेत्पञ्च वर्षाणि, दश वर्षाणि ताडयेत्** (पाँच वर्ष की उम्र तक बच्चे को लाड़ करना चाहिये, अगले दस बरस — पन्द्रह की उम्र— तक बच्चे को कठोर नियन्त्रण में रखना चाहिये)।

संकट में पड़े हुए मुझे आदरणीय भाडा जी ने एक क्लिष्ट साधना करने का निर्देश दिया। इस साधना ने मुझे एक अन्य गुरु की शरण में पहुँचा दिया॥ १६-१८

(3) भैरवोपास्तिसंसिद्धं, साक्षाद्भैरवतां गतम्।
श्रीभूमानन्दतीर्थाख्यं, गङ्गाद्वारेऽथ दण्डिनम्॥ १९
निमित्तमभवत्तत्र बालमित्रं तु यः पुरा।
श्रीराधाकृष्णशास्त्रीति निगमबोधतीर्थकः॥ २०

(३) वे गुरु थे दण्डीस्वामी श्रीभूमानन्दतीर्थ। आप भैरव की उपासना करके इस प्रकार सिद्ध हो गये थे कि साक्षाद् भैरव ही हो गये थे। आपका आश्रम भूपतवाला, हरिद्वार, में स्थित है। इनके पास पहुँचने में प्रत्यक्ष निमित्त बने मेरे बचपन के मित्र डॉ0 राधाकृष्ण शास्त्री, पश्चाद् दण्डीस्वामी निगमबोधतीर्थ, निगमनिकेतन, लुधियाना॥ १९-२०

अग्रजीकृत्य यं भक्त्या, समुपासि तु मारुतिम्।
वज्राङ्गबाणमन्त्रेण, संकटान्मुक्तये पुनः॥ २१
श्रीभूमानन्दतीर्थस्तमाराधयितुमादिशत्।
चत्त्वारिंशतमेकं च दिनानि नियमेन सः॥ २२
अनुष्ठानस्य मध्ये च, मारुतिर्हृदयाद्गतः।
चामुण्डा हृदयं प्राप्ता, दीपयन्ती दिशो दश॥ २३
तस्या नूपुरघोषेण गुञ्जितं हृदयं मम।
व्याकुलस्य शिशोर्यत् साऽन्वेषयतस्तु मारुतिम्॥ २४
मुखे स्तनं ददौ प्रीत्या, रुदतो ह्यर्भकस्य मे।
स्निह्यन्ती च मृशन्त्येषा, कोमलेन करेण माम्॥ २५
कालीवदनचन्द्रस्य, कान्तिं, स्वादं पयोगतम्।
नाद्य यावत्क्षणायापि, व्यस्मार्षं कृपया गुरोः॥ २६

मैं बचपन में हनुमान् की आराधना उन्हें अग्रज मानकर किया करता था। अब दण्डीस्वामी श्रीभूमानन्दतीर्थजी ने संकट से मुक्ति पाने के लिये मुझे 41 दिन का संकल्प लेकर, बीच में क्रोध न करने की ताकीद कर के, 'श्रीबजरंगबाण' स्तोत्र से नियमपूर्वक श्रीहनुमान् जी की आराधना का आदेश दिया। अनुष्ठान चलते हुए 19-20 दिन हुए थे कि एक रात आराधना के समय हनुमान् जी ध्यान से तिरोहित हो गए, प्रयत्न करने पर भी मन में प्रकट नहीं हुए, और भगवती चामुण्डा हृदय के कोने-कोने को प्रकाशित करती हुई वहाँ आ विराजी। अद्भुत दृश्य था

वह —उसके नूपुरों की मधुर ध्वनि से मेरा हृदय गूँज रहा था। मैं व्याकुल होकर अनुष्ठान के देवता श्रीहनुमान्‌जी को खोज रहा था, और माँ को आने में बिलम्ब के लिये रोते हुए उल्हाने दे ही रहा था कि माँ ने मुझे चुप कराने के लिये मुझ बालक के मुख में प्रेम से अपना स्तन दे दिया। उस समय माँ प्रेम से अपने कोमल हाथ से मुझे सहला रही थी। गुरुजनों की कृपा थी कि मैं भगवती महाकाली के मुखचन्द्र की छटा को और उसके दूध के स्वाद को आज तक, क्षणमात्र के लिये भी, नहीं भूला हूँ॥ २१-२६

(गुरुदीक्षा)

समाप्ते कर्मणि प्राप्तावदीक्षिष्ट स दम्पती।
निवृत्तिमार्गपाथेयं दीक्षां मेऽसौ परं बलम्॥ २७

अनुष्ठान सम्पूर्ण होने पर संकट समाप्ति की ओर आ गया और मैं तथा पत्नी तारादेवी कोकिला श्रीभूमानन्दतीर्थ जी की सेवा में हरिद्वार गए। उन्होंने मुझे भगवती चामुण्डा की आराधना का तथा पत्नी को शिव की उपासना का मन्त्र देकर दीक्षित किया। वह दीक्षा मेरे लिये निवृत्तिमार्ग पर अपनी यात्रा का पाथेय है और मेरा सबसे बड़ा बल है, जिसके कारण मैं निर्भय और निर्द्वन्द्व रहता हूँ॥ २७

(4) साक्षाद्भगवतीरूपा श्रद्धामाता गुरुस्ततः।
कियद्वारान्ममावासे नवरात्रानुपास्य सा॥ २८
श्रीयन्त्रोपासनां चक्र आह्निकीं गुह्यरूपिणीम्।
करपात्रस्वामिना दत्तामदित्सत्तां कृपां मयि॥ २९
पूजनादिविधौ तत्र रुचिर्मे किन्तु नोऽभवत्।
प्रत्यजिघृक्षमेतां नो किन्त्वम्बेव कृपामयी॥ ३०
निगमबोधनाम्न्येषा श्मशाने मध्यरात्रके।
नारसिंहेन मन्त्रेण दीक्षाञ्चक्रे दयामयी॥ ३१

(४) इस मार्ग की मेरी चौथी गुरु हैं जगदम्बा का मानवदेहधारी रूप श्रद्धेया श्रद्धा माता। आपने दिल्ली में मेरे आवास पर कई बार नवरात्रोपासना पूरे विधि-विधान से की थी। उन्हें परमश्रद्धेय करपात्री जी ने अत्यन्त गुह्य श्रीयन्त्र की दैनिक उपासना की दीक्षा दी थी तथा वे प्रतिदिन मेरे घर पर उसे करती थी। मेरे प्रति स्नेह और कृपा के कारण माता जी मुझे श्रीयन्त्रोपासना की दीक्षा देना चाहती थी। पर मेरी रुचि पूजन आदि कर्मकाण्ड में तनिक भी नहीं थी। अतः मैंने उनसे इसे न लेने के लिये क्षमा माँग ली —किन्तु माताजी तो मुझ पर अनुग्रह करना ही चाहती थी। उन्होंने एक शुभ मुहूर्त में आधी रात के समय दिल्ली के पुराणप्रसिद्ध

महाश्मशान निगमबोध घाट के ऊँचे चितास्थल पर नारसिंही माता के मन्त्र की दीक्षा मुझे दी॥ २८-३१

(साधनाकाले भीषणा रोगबाधा)

अनुसृत्योपदेशांश्च, कञ्चित्कालं प्रवर्तितः।
साधनोपासनामार्गे, कायक्लेशमुपागतः॥ ३२
कायार्धेन तु निश्चेष्टो, मस्तिष्कस्त्रावतस्ततः।
हिन्दूरावे चिकित्सार्थं दशरात्राय मूर्च्छितः॥ ३३

इन गुरुओं के उपदेशों का अनुसरण करके कुछ बरस तक साधना के मार्ग पर चलता रहा। तभी मधुमेह की औषधि के कुप्रभाव के कारण शरीर में ६ नवम्बर १९९१ की रात को अधरँग आ गया। हिन्दूराव अस्पताल, दिल्ली में चिकित्सा के लिये पहुँचने पर ९ नवम्बर १९९१ की रात को ब्रेन हैमरेज होने पर मूर्च्छित अवस्था (कॉमा) में दस दिन-रात रहा॥ ३२-३३

(मूर्च्छाऽवस्थायां जगदम्बायाः कृपा)

अम्बया भ्रामितो लोकान्मेलितो मुनिभिः सह।
तैरेव च संलापे नाना विद्यास्तु लम्भितः॥ ३४
गायत्रीच्छन्दसा बद्धामृचं तस्यां स्थितौ पुनः।
दृष्ट्वास्मार्षमथो बोधे तदर्थे भावना कृता॥ ३५
रोगस्य कारणोद्बोधोऽनयर्चा कारितो मम।
अस्मिन्कर्मणि साहाय्यं सोमराजो बुधोऽकरोत्॥ ३६

जैसा कि इस प्रकार के रोगी को होता है, मेरा अवचेतन मन पूरी तरह सचेत रहा। लीलामय भगवती ने न जाने किन-किन लोकों की सैर कराई, और किन-किन महापुरुषों से मिलवाया और उनसे बातचीत के दौरान कई नई-नई विद्याएँ सीखने को मिली। एक गायत्रीबद्ध ऋचा का दर्शन भी हुआ, जिससे मेरे इस अवस्था में पहुँचने का निदान मेरे सहयोगी, आंग्लभाषा के प्राध्यापक, शाङ्कर अद्वैतदर्शन के विश्वप्रसिद्ध विद्वान् लेखक श्रीसोमराज गुप्त की सहायता से हुआ॥ ३४-३६

(मूर्च्छासमाप्तौ भगवत्याः कृपा)

रागद्वेषादिशून्यत्वमापाद्य मनसश्च सा।
परानन्दमहावार्धौ मामम्बा समपीप्लवत्॥ ३७
अङ्के कृत्वा समाच्छाद्य मसृणेनाञ्चलेन सा।
वक्षसाऽथ समायोज्य पराम्बा मामलीलडत्॥ ३८

अद्यापि सा यदैवाहमिच्छामि मां स्तनन्धयम्।
लालयति परस्नेहादङ्के कृत्वा सुखं गतम्॥ ३९
अथैतच्छैशवं नित्यमनुभवामि तन्मतिः।

मूर्च्छा टूटने पर माँ ने मुझ पर जिस प्रकार कृपा की, उसका स्वरूप कुछ इस प्रकार है — मेरे मन से वैयक्तिक सुख-दुःख की उत्प्रेरक राग, द्वेष, इच्छा आदि भावनाएँ समाप्त-सी हो गईं और मैं हमेशा आनन्द के सागर में गोते लगाने लगा। माँ मुझे गोद में लेकर अपने सुकोमल आँचल से ढँककर, मुझे अपनी छाती से लगाकर मुझ शिशु को लाड लडाने लगी। अब भी मैं जब चाहता हूँ, दूध पीते शिशु के समान उसकी सुकोमल गोद का आनन्द लेता हूँ॥ ३७-३९

(एतत्कृपायाः प्रभावः)

एतत्कृपाप्रभावेण परमानन्दसम्प्लुतः॥ ४०
स्वीयो नैव, परः कोऽपि, सर्वे स्वीयाः परेऽथवा।
भावोऽयं हृदये रूढो, जगत्पश्याम्यतद्गतः॥ ४१
न कश्चिद्ब्राह्मणो मेऽद्य, न शूद्रः कश्चिदेव वा।
सर्वेऽपत्यसमाना हि, बाला, वृद्धाः, स्त्रियो, नराः॥ ४२

इतना ही नहीं, मैं अपने मन में माँ को सदा रखकर शिशुभाव से इसकी कृपा का अनुभव करता हूँ, और हमेशा लौकिक कारणों से निरपेक्ष आनन्द में तैरता रहता हूँ। मन की इस स्थिति में न मुझे कोई अपना है और न पराया है। या फिर सब अपने हैं, अथवा सब पराए हैं। यह भाव हृदय में रम रहा है। मैं जगत् में रहकर भी इसमें न रहकर तटस्थ भाव से इसकी गतिविधियाँ देखता हूँ। आज मेरे लिये न कोई ब्राह्मण है और न कोई शूद्र ही है। बच्चे, बूढ़े, स्त्री, पुरुष सब बच्चों जैसे लगते हैं॥ ४०-४२

(गुरूणां महिमा)

अपरस्यास्तु विद्याया देष्टारो मामबूबुधन्।
भेदात्मकस्य लोकस्य स्वरूपं सम्यगेव ते॥ ४३
परस्याश्चैव विद्याया देष्टृभिः कृपया मयि।
त्रिगुणाङ्कनिवासस्य साक्षात्कारश्चिदात्मनः॥ ४४
अलौकिकं च यत्सौख्यं देहेऽस्मिंस्तत्तु भावितम्।
एवं कृतार्थितो देव्या परमानन्दरूपया॥ ४५

अपरा विद्या का उपदेश करने वाले गुरुओं ने मुझे भेदबुद्धि पर आधारित जगत् का भेदात्मक स्वरूप अच्छी तरह समझा दिया। परा विद्या का उपदेश करने

वाले गुरुओं ने मुझ पर कृपा करके मुझे भगवती त्रिगुणमयी, परा प्रकृति की गोद में रहने का और चित्स्वरूप परमस्वरूप के साक्षात्कार के अलौकिक, अद्भुत, सुख का अनुभव इसी शरीर में करा दिया है। इस प्रकार परमानन्दरूपिणी भगवती जगदम्बा ने मुझे कृतकृत्य कर दिया है॥ ४३-४५

(ऋणाद्विमुक्तेः सन्तोषः)

(क) एतेषामुपदेशेन, विद्याया लम्भितः कणः।
आनृण्यं तस्य नो कर्तुं, शक्यं जन्मशतैरपि॥ ४६
तत्कृते यत्नवानस्मि कुर्वन् बहुपरिश्रमम्।
ग्रन्थप्रणयनेनाथाधीतिबोधप्रबोधनैः ॥ ४७
आनृण्यं पितृवर्गस्य न शक्त ऋणमार्षकम्।
अपि निर्यातयेयं चेत्सफलो जीवनेऽनृणः॥ ४८

(क) अपरा और परा विद्याओं के उपदेश से मैं इनके मेरी अल्पबुद्धि में समाने योग्य कुछ भोरे (कण) ले पाया हूँ। इस ऋषिऋण को चुकाना सैकड़ों जन्मों में भी सम्भव नहीं है। फिर भी मैं खूब परिश्रम से ग्रन्थरचना, निरन्तर स्वाध्याय, मनन और अध्यापन के द्वारा इसको चुकाने के लिये प्रयत्नशील रहता हूँ। मैं पितृऋण तो नहीं चुका सका हूँ, पर अगर ऋषिऋण ही चुका पाऊँ, तो इस ऋण से मुक्त होने से मैं अपने जीवन में सफल हो जाऊँगा॥ ४६-४८

(ख) देवर्णस्य च निर्यातोऽक्षराराधनया भवेत्।
अक्षरोपासना सेयमक्षरां वरदां क्रियात्॥ ४९

(ख) देवताओं के ऋण का भुगतान अक्षरा भगवती की आराधना से हो सकता है। मैं स्वाध्याय, अध्यापन और ग्रन्थरचना के द्वारा अक्षरों से भगवती महासरस्वती की आराधना जो कर रहा हूँ, वह सर्वभावविकारों से रहित आद्या भगवती और उसमें व्याप्त चैतन्य तत्त्व को मेरा अभीष्ट प्रदान करने को प्रेरित करे, यही मेरी इच्छा है॥ ४९

इत्यृणद्वयसंशोधे तृतीयः शिष्यते नहि।
सेयं सरस्वती देवी ब्रह्माणीमपि तोषयेत्॥ ५०
तुष्टयोरनयोर्नूनं लक्ष्मीर्गौरी च तुष्यतः।
त्रिगुणेयं यदा तुष्टा, तुष्टा ब्रह्मेशविष्णवः॥ ५१

इस प्रकार दो ऋणों का निपटान होने पर, तीसरा ऋण भी शेष नहीं रहेगा, क्योंकि रजोगुणप्रधान सरस्वती सन्तुष्ट होंगी, तो रजोगुणप्रधान ब्रह्माणी भी अपनी सृष्टि का सारस्वत विकास देखकर अवश्य सन्तुष्ट होंगी। ये दोनों माताएँ

जब प्रसन्न होंगी, तो सृष्ट जगत् के विकास में सहयोगिनी, जगत् की रक्षा करने वाली भगवती महालक्ष्मी कैसे अप्रसन्न रह सकतीं हैं? सृष्ट, विकसित और रक्षित जगत् का कल्याण करने वाली भगवती जगदम्बा जो प्रवृत्तिमार्गियों के लिये काली हैं, और निवृत्तिमार्गियों के लिये गौरी हैं, वे ऐसी स्थिति में स्वतः ही सन्तुष्ट हो जाएँगी। मेरी प्रवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति में वे महाकाली बनकर मेरी रक्षा करेंगी और निवृत्तिमार्ग पर चलने पर महागौरी के रूप में मुझे अपनी शरण में अवश्य लेंगी। जब त्रिगुणा सन्तुष्ट होंगी, तो तीन गुणों में अभिव्यक्त चैतन्य, ब्रह्मा, विष्णु और महेश, अवश्य मुझ पर प्रसन्न होंगे॥ ५०-५१

(उपसंहारः)

आनन्दसागरे शश्वदम्बात्रयेण लालितः।
उत्प्लवे प्लव एवाथ शिवनारायणाह्वयः॥ ५२
न निन्दा व्यथयत्येषा यस्या उद्विजते जनः।
मार्गान्न भ्रंशयत्येषा प्रशंसेति मधुस्तु यः॥ ५३
महिषो वाऽथवा शुम्भंस्तत्सहायास्तथोर्मयः।
अम्बापादप्लवारूढं व्यथयेयुस्तु किं नु माम् ?॥ ५४
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च वरदोभयथाऽम्बिका।
सर्वशास्त्रार्थसारोऽयं श्रद्धया धीयतां मतौ ॥ ५५

तीनों माताएँ मेरा बहुत दुलार करती हैं। इस स्थिति में यह शिवनारायण, जो स्वयं के लिये विषपायी शिव है और शेष जगत् के लिये नारायण, जिसके सब साधन परसेवार्थ रहे हैं, और भविष्य में भी रहें, यह प्रयत्न है। जिससे लोग उद्विग्न होते हैं, वह निन्दारूपी कैटभ मुझे विचलित नहीं करता। प्रशंसारूपी मधु भी मुझे अपने मार्ग से भ्रष्ट नहीं करता। चाहे अपने को सर्वोत्तम समझने की प्रवृत्तिरूप, अहंकारस्वरूप महिष हो, या ममताभाव का प्रतीक शुम्भ हो, या इनकी सहायक अन्य वृत्तियों की लहरें हों, जगदम्बा के चरणरूपी पोत पर आरूढ मुझे ये सब दुःखित या अपने मार्ग से विचलित नहीं करती हैं। प्रवृत्तिमार्ग हो, या निवृत्तिमार्ग, दोनों में ही जगदम्बा उत्तम फल प्रदान करती हैं। सब शास्त्रों के प्रतिपाद्य का यही सार है। इसे श्रद्धा से अपनी बुद्धि में धारण कर लें॥ ५२-५५

(ग्रन्थकर्तुरिच्छा)

प्रवृत्तावधुना मे सा, वरं योग्यं प्रयच्छतात्।
निवृत्तौ यत्नवांश्चेत्स्यां, वरं योग्यं प्रयच्छतात्॥ ५६

अब मैं प्रवृत्तिमार्ग पर चल रहा हूँ। जगदम्बा मुझे इस मार्ग के योग्य वर

(उत्तम फल) प्रदान करने की कृपा करें। अगर मेरे कोई प्रयत्न निवृत्तिमार्ग पर चलने के होंवें, तो जगदम्बा मुझे उस मार्ग के योग्य उत्तम फल प्रदान करे॥ ५६

(ग्रन्थरचनाविषये किंचित्)

श्रावणे कृष्णपक्षस्य, द्वितीयायां भृगौ पुनः।
रात्रौ विंशोत्तरे नादे, दशमे पूरिता दश॥ ५७
रवौ प्रातः समारब्धं, सोमे पङ्क्तिर्न लेखिता।
ज्वरेऽपि च प्रतिश्याये, दिवसैः पञ्चभिः कृताः॥ ५८

श्रावण बदि दूज, शुक्रवार २०५९ वि0, 'मन्मथ' नामक वर्ष, २६.७.२००२ ई0 की रात के दस बजकर बीस मिनट पर 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' (संस्कृत ग्रन्थ) के दस अध्याय पूरे हो गये थे। इसका प्रारम्भ रवि के सुबह हुआ था। व्यस्ततावशात् सोमवार को एक पङ्क्ति भी नहीं लिखी जा सकी। सब दिन ज्वर और जुकाम होते हुए भी दस अध्याय पाँच दिन में पूरे हो गये थे॥ ५७-५८

ततो हिन्द्या कृता व्याख्या दशाध्याय्या हितेच्छया।
संस्कृतेनानभिज्ञानामल्पज्ञानां वा विशेषतः॥ ५९
सप्तम्यां श्रावणे कृष्ण, ऊनषष्टौ च वत्सरे।
वैक्रमे मन्मथे सौम्ये, कृतारम्भा समापिता॥ ६०
चतुर्थ्यां श्रावणे शुक्ले सोमे सायं च पूरिता।
अम्बायाः कृपया सेयं सरला भावबोधिनी॥ ६१

उसके बाद जो लोग संस्कृत नहीं जानते, या कम जानते हैं, उन्हें विशेषरूप से ध्यान में रखकर उनका हित करने की इच्छा से सरल किन्तु भावगम्भीर संस्कृत ग्रन्थ के दस अध्यायों की हिन्दी में व्याख्या ३१ जुलाई २००२ ई0, बुधवार को प्रारम्भ होकर सावन सुदी चौथ, सोमवार १२ अगस्त २००२ ई0, सायंकाल को जगदम्बा की कृपा से समाप्त हुई॥ ५९-६१

(अन्तिमास्त्रयोऽध्याया नात्मप्रशंसायै)

येषामेव प्रभावेण, दुर्गातत्त्वविमर्शनम्।
कर्तुमासं समर्थोऽहं, स्मृतिस्तेषामचूचुदत्॥ ६२
श्रद्धया स्मरणं तेषां, कर्तुं यत्नः समाश्रितः।
विकत्थनं न चाभीष्टं, श्रद्धामात्रं तु कारणम्॥ ६३
अध्यायाश्च त्रयस्तेऽत्र, समाप्ता भाद्रकृष्णके।
संस्कृतेनापि हिन्द्या च, द्वादश्यां बुधवासरे॥ ६४

जिन लोगों की कृपा के कारण 'श्रीदुर्गासप्तशती' के तत्त्व पर विचार-

विमर्श कर सका, उनकी याद ने मुझे प्रेरित किया और श्रद्धा से उन्हें याद करने का प्रयत्न करने का विचार किया। इस सन्दर्भ में जो कुछ लिखा गया है, उसमें किसी भी प्रकार से अपनी प्रशंसा करने, पाने का भाव अभीष्ट नहीं है। केवल उपकारी गुरुजनों के प्रति श्रद्धा के कारण ही यह प्रकरण लिखा गया है। इस प्रकरण में तीन अध्याय हैं और उनका संस्कृत और हिन्दी रूप साथ-साथ चला है। भाद्रपद बदि बारस, बुधवार २०५९ वि0 सं0, ४ सितम्बर २००२ के दिन ये संस्कृत ग्रन्थ के तीन अध्याय सम्पूर्ण हुए हैं॥ ६२-६४

(त्रुटिकृते क्षमाप्रार्थना)

क्षम्यन्तामत्र मे दोषा, गुणो ग्रन्थस्य कथ्यताम्।
अथवा दोषसंघो मे, मुक्तकण्ठं ननूच्यताम्॥ ६५
नैर्मल्यं मम बुद्धेः स्याद्दोषज्ञश्च भवाम्यहम्।
न हि कश्चिद्विजानाति रक्तिमानं स्वचक्षुषः॥ ६६
पीडां यावन्न दत्तेऽसावामयोऽपि न दृश्यते।
एवं विभावयन्तो मे, कथयन्तु त्रुटीर्मम॥ ६७

इस ग्रन्थ में विचारगत और अभिव्यक्तिगत जो भी दोष हैं, वे मेरी कमियाँ हैं। सुधी पाठक इन्हें क्षमा करें, सहन करें। ग्रन्थ में अगर कोई अच्छाई है, तो उसे कहें। अथवा दोषों को क्षमा करने की बजाए इन्हें खुले गले से, विना कोई संकोच किये, कहने की कृपा करें। इससे (१) मुझे अपनी समझ की कमी मालूम होगी, (२) मैं उन्हें दूर करने का प्रयास करूँगा, तो (३) मेरी बुद्धि का कूड़ा-कचरा कुछ तो कम होगा। (४) संस्कृत में दोषों को जानने वाले को 'विपश्चिद्', 'विद्वान्' (समझदार) कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं --- (क) प्रवृत्तिमार्गी लोग दूसरों में कमियाँ निकाला करते हैं। उन्हें दुनियादारी में समझदार विद्वान् कहा जाता है। (ख) निवृत्तिमार्गी लोग अपनी कमियाँ खोजते हैं, और ऐसा करते-करते अन्तर्मुखी होकर वे परमतत्त्व तक पहुँच जाते हैं और संसार के मायामोह से मुक्त हो जाते हैं। मेरी रुचि प्रथम प्रकार का विद्वान् बनने में नहीं है। किसी को भी अपनी आँख की लाली, अपने राग-द्वेष आदि दोष दिखाई नहीं दिया करते। वे तब दिखाई देते हैं, जब ये मनुष्य को कष्ट पहुँचाने लगते हैं। जब तक बीमारी से मनुष्य को दर्द, दुःख नहीं होने लगता है, तब तक अपने अन्दर स्थित रोग भी दिखाई नहीं देता। यह विचार कर पाठक मेरी कमियाँ अवश्य बताएँ॥ ६५-६७

(श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शस्योद्देश्यम्)

दुर्गातत्त्वविमर्शोऽयं, ग्रन्थो दुर्गाप्रकाशकः।
तेनैवात्मगतान्दोषान्, व्याख्याति हितकाम्यया॥ ६८
आदर्शो दर्शयत्येवं, दर्शयेद्रूपमात्मनः।
अयं भावः पुराणानां, कथाभिरुपकारकः॥ ६९

'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' ग्रन्थ 'श्रीदुर्गासप्तशती' के लोक के लिये प्रत्यक्षतः हितकारी दृष्ट धर्म के स्वरूप को प्रकाशित करता है। मनुष्य के भीतर स्थित दोषों की व्याख्या, 'अपने दोषों को जानने से सुधार का अवसर मिलने के कारण लोगों का हित होवे', इस इच्छा से की गई है। जिस प्रकार दर्पण अपने सामने स्थित वस्तु के अच्छे-बुरे रूप को अनासक्त भाव से दिखाता है, वैसे ही यह ग्रन्थ भी मनुष्य के अन्दर विद्यमान देव और असुर स्वभाव को प्रकाशित करने में सहायक होगा। पुराणों में इसी प्रकार मनुष्य को उसकी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दिखलाने का कार्य नाना प्रकार की कहानियाँ कहकर लोगों का उपकार किया गया है— उन्हें 'दोषज्ञ' बनाने का प्रयास किया गया है॥ ६८-६९

(समर्पणम्)

सोऽयं ग्रन्थः कृतो भक्त्या, जगदम्बाकथामिषात्।
अर्प्यते भक्तिभावेन त्रिगुणापादषड्गवे॥ ७०
अम्बा सरस्वती साक्षाल्लक्ष्मीः कालीति ये पुनः।
भगिन्यौ ते सरस्वत्यास्तिस्त्रः सप्रीतयो मयि॥ ७१

इति श्रीमतीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्रिसुतेन शिवनारायणशास्त्रिणा कृते श्रीदुर्गातत्त्वविमर्शे त्रयोदशोऽध्यायः॥

श्रीगौरीशङ्कर मन्दिर (श्रीकिरोड़ीमल मन्दिर), बिचला बाजार, भिवानी में अपने कुल के मूलपुरुष, मेरे पिता के प्रपितामह, पण्डित श्रीरामसहाय जी की स्मृति में संचालित 'श्रीरामसहाय वेदवेदाङ्गविद्यालय' के छात्रों को चण्डीपाठ का प्रयोगपक्ष सिखलाने के लिये वर्षाकालिक नवरात्र के अवसर पर चण्डीपाठ का आयोजन ११ जुलाई से १८ जुलाई २००२ तक किया गया था। इस अवसर पर 'श्रीदुर्गासप्तशती' का समाजोपयोगी स्वरूप समझाने के लिये सायंकाल कथा की व्यवस्था भी की गई थी। उस कथा के बहाने से मुझे 'श्रीदुर्गासप्तशती' का समाजोपयोगी तात्पर्य समझने का अवसर मिला।

इसके बाद कथा के शब्द तो आकाश में व्याप्त होकर परोक्ष हो गए। मैं भी समय बीतते इसे भूल जाऊँगा। हिन्दूराव अस्पताल में चिकित्सा के दौरान

'श्रीदुर्गासप्तशती' की व्याख्या को टेप कराने के संकल्प को मित्रों ने रोगावस्था की बहक समझकर नहीं होने दिया था। अब उचित अवसर समझकर इसे लेखबद्ध करने का विचार मन में आया। विचार तो हिन्दी में ही लिखने का था, पर मङ्गलाचरण संस्कृत में लिखने पर कलम से संस्कृत में ही श्लोक झरने लगे, तो पूरा ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखा गया। संस्कृत ग्रन्थ का उपयोग मुश्किल से गिनती के लोग ही कर पाएँगे, संस्कृत के विद्वान् की तो स्वाध्याय में निष्ठा ही नहीं होती, शेष लोग संस्कृत के प्रति आदर के चलते पुस्तक पर रोली-चावल चढ़ाने के अतिरिक्त संस्कृतग्रन्थ का और कोई उपयोग नहीं कर सकते। अतः पहले तो संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने का विचार था, पर उतने से ग्रन्थ का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होगा, यह समझकर हिन्दी में व्याख्या के रूप में लिखने का विचार किया। इस प्रकार जगदम्बा और 'श्रीदुर्गासप्तशती' के प्रति भक्ति के कारण यह पुराना संकल्प आज ५.९.२००२ की शाम को पूरा हो रहा है। इसे मैं माँ के प्रति पूर्ण श्रद्धा और शरणागत होकर भगवती त्रिगुणा के तीनों स्वरूपों के छहों चरणों में अर्पित कर रहा हूँ। मेरी माँ तो रजोगुणप्रधान भगवती सरस्वती हैं। सत्त्वगुणप्रधान महालक्ष्मी और तमोगुणप्रधान भगवती महाकाली दोनों सरस्वती की दो बहिनें और मेरी मौसियाँ हैं। पर प्यार मुझे तीनों करती हैं॥ ७०-७१

भादों बदी त्रयोदशी, गुरुदिन, साढ़े पाँच।
बरस विक्रमी ऊनसठ, पाँच सितम्बर शाम॥ १
दो हजार दो ईसवी, हुआ ग्रन्थ ये पूर्ण।
जगदम्बा की है कृपा, गुरुजन की आसीस॥ २
बरसों बाद कलम उठी, ग्रन्थ नहीं इक पास।
श्रद्धालू से प्रार्थना, पढ़ देखें इक बार॥ ३
सारगहें इसका सुधी, सारहीन दें त्याग।
चेष्टा पूरी मैं करी, शास्त्र कहूँ सब साफ॥ ४
खुद को ही पहचानिये, पढ़ इसको सह ध्यान।
करें स्वयं ही फिर जतन, इस से हो कल्याण॥ ५

सीतादेवी और श्रीनिवासशास्त्री के पुत्र शिवनारायणशास्त्री द्वारा रचित 'श्रीदुर्गातत्त्वविमर्श' नामक ग्रन्थ में त्रयोदश अध्याय व ग्रन्थ संपूर्ण हुआ॥

॥ ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥

卐

लेखक परिचय

जन्म - 15 मई 1938, जन्मस्थान - खरक , हरि० ।

माता - सीता देवी, जन्मस्थान नारनोंद ,हरि० ।

पिता - पण्डित श्रीश्रीनिवास शास्त्री, ज्यौतिषाचार्य, जन्मस्थान - खरक,हरि० ।

धर्मपत्नी - श्रीमती कुसुम शर्मा, जन्मस्थान कराची ।

शिक्षा - शास्त्री, प्रभाकर, वेदान्तशास्त्री (सं०सं०वि०वि०, वाराणसी), साहित्याचार्य, एम० ए०(सं०) ,दि० वि० वि०, दिल्ली ।

कार्यक्षेत्र अध्यापन -- 1. आर्यकन्यामहाविद्यालय, कारेली बाग, बड़ौदा, गुजरात (1961-1962), 2. किरोड़ीमलमहाविद्यालय, दिल्ली वि० वि०, दिल्ली (1962-2001) से रीडर (संस्कृत) पद से सेवानिवृत्त ।

साहित्यिक सम्मान

1. संस्कृतसाहित्यसेवासंमान, (1993), दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली ।
2. स्वामीहरिहरानन्द(करपात्रस्वामी)पुरस्कार, (2000), श्रीसं० संस्कृतविश्वविद्यालय,वाराणसी ।
3. निरुक्तवेदाङ्गपुरस्कार, (2003), महर्षिसान्दीपनिराष्ट्रियवेदप्रतिष्ठानम्, उज्जैन, (म० प्र०) ।
4. सरस्वतीसंमान, (2003), सांस्कृतिक मञ्च, भिवानी ।

सम्प्रति —'श्रीसीतादेवीश्रीनिवासशास्त्री खरकिये सेवानिधि' के माध्यम से निर्धन महिलाओं और बालकों की सेवा में तथा श्रीरामसहाय वेदवेदाङ्गविद्यालय, भिवानी के द्वारा वेद, वेदाङ्ग और कर्मकाण्ड के शिक्षण में तथा स्वाध्याय में रत ।

शिवनारायण शास्त्री के ग्रन्थ

प्रकाशित

1. निरुक्तमीमांसा — (क) पुरस्कारयोजनासमिति, उ० प्र० तथा (ख) हरजीमल डालमियापुरस्कार, दिल्ली, से सम्मानित । 2. वैदिक वाङ्मय में भाषाचिन्तन — पुरस्कारयोजनासमिति, उ०प्र० द्वारा पुरस्कृत । 3. गीताभाष्यनवाम्बरा— पुरस्कारयोजनासमिति, उ०प्र० द्वारा पुरस्कृत । 4. निरुक्त के पाँच (1-4, 7) अध्याय । 5. निरुक्त — (1-2, 7 अध्याय) छात्रोपयोगी ग्रन्थ । 6. तर्कसंग्रहतारोदय । 7. सबालप्रबोधन्युपन्यासः तर्कसंग्रहः । 8. ईशोपनिषद्भाष्यनवाम्बरा । 9. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी-भवतोषिणी (भ्वादिगण) । 10. काव्यादर्शप्रसादिनी (1-3 भाग) । 11. महाभाष्यप्रदीपप्रकाश (1-2 आह्निक) । 12. प्रश्नोत्तर-रत्न-मालिका ।

प्रकाश्य

1. श्रीसत्यनारायणव्रतकथाकाव्य । 2. ऋग्वेदसंहिताहिन्दीकाव्यभाष्य (8 भागों में) । 3. शिक्षावेदाङ्ग (Ancient Indian Phonetics)—अंग्रेजी अनुवादसहित (3 भागों में) । 4. धर्मशास्त्रम् — हिन्दीभाषानुवादसहित 20 स्मृतियाँ — प्रथम भाग । 5. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीभवतोषिणी (नवगणी) । 6. महाभाष्यप्रदीपप्रकाश (3-4 आह्निक) । 7. महाभाष्य-दीपिका-प्रकाश (1-4 आह्निक) । 8. तर्कसंग्रहटीकास्तबकम् प्राचीन, अर्वाचीन 17 टीकाएँ सहित सम्पादित । 9. नीतिशतकम्— संस्कृतव्याख्या । 10. ऋग्वेदसंहिता-सायणभाष्यम् — (प्रथमोध्यायः) हिन्दी अनुवाद सहितम् । 11. सामणाचार्यकृत ऋग्वेदभाष्यभूमिका —हिन्दी अनुवाद ।